।। अमनस्कयोग ।।

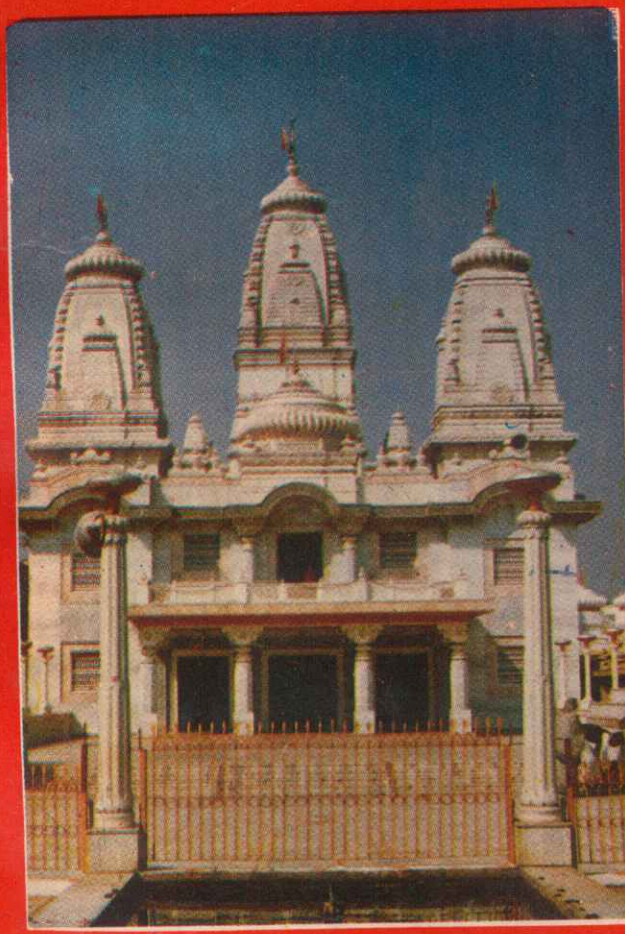

गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर

30=00

अमनस्कयोग

प्रणेता
{शिवगोरक्ष}
महायोगी गोरक्षनाथ

सम्पादक
रामलाल श्रीवास्तव

गोरक्षनाथ-मन्दिर
गोरखपुर
सं० २०५६ वि०

अमनस्क

निक्षिप्तं कनकं विहाय कलुषं यद्वद् भवेन्निर्मलं
निर्वातस्थितनिस्तरंगमुदकं स्वच्छस्वभावं परम्।
तद्वद् सर्वमिदं विहाय सकलं देदीप्यते निष्कलं
तत्त्वं तत्सहजं स्वभावमलं जातेऽमनस्के ध्रुवम्।।

अग्नि में डाला हुआ सोना जैसे कालिमा का त्याग कर निर्मल हो जाता है एवं जैसे निर्वात (वायुरहित) स्थान पर जल तरंगरहित तथा स्वच्छ-स्वभाव रहता है, वैसे ही अमनस्क हो जाने पर सकल (कलासहित) तत्व निश्चय ही इस प्रपंच का त्याग कर निर्मल, निष्कल, सहजस्वभाव हो जाता है।

{ अमनस्कयोग २ / ७८ }

निवेदन

'अमनस्कयोग' शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ का असाधारण मौलिक तथा अन्तरंग योगसम्बन्धी अनुग्रहवाङ्मय है, जिसकी महनीयता के रसास्वादन का प्राण है स्वसंवेद्य अलखनिरंजन परमतत्व-परमपद, महाशून्यस्वरूप परमेश्वर का अनायास सहज साक्षात्कार। उन्होंने असंख्य प्राणियों को भवसागर से तरने का सहज उपाय निर्दिष्ट किया, जो साधनापेक्ष होकर भी नितान्त निरपेक्ष और स्वसंवेद्य तथा स्वाभिव्यक्त है। यह अमनस्कयोग गुरू के सन्निधान से श्रद्धापूर्वक संस्थित होकर अन्तरंग साधना के अमृततत्व से जीवन को सम्पन्न करने पर अथवा जीवनमुक्त का वरण करने पर ही साध्य है, जब तक गुरू के उपदेशामृत से अन्तःकरण की मायिक तमिस्रा का मूलोच्छेद नहीं होता, तब तक अमनस्कसिद्धि का स्वर्णोदय स्वप्न मात्र है।

जागतिक विषय-प्रपञ्च और योग-साधना के बाह्य अंगों से मन को तटस्थ और उदासीन रखने के साथ-ही-साथ उसे इनसे अतीत करना ही अमनस्कयोग है। गोरखनाथजी ने इसे तारकयोग कहा है। यह योग का अन्यतम साधनास्वरूप है। इसमें इसमें अतिमानसता नहीं, अमनस्कता का ही पक्ष ग्रहण किया जाता है। इस तारकयोग के दो विभाग हैं। पहला पूर्वतारक है। इसकी साधना मनसापेक्ष है और दूसरा अमनस्क योग है, जिसकी साधना में मन उन्मनी समाधि की सिद्धि के द्वारा उन्मन कर दिया जाता है और परमात्मस्वरूप में उसका महालय स्थापित कर अमनस्कता की सिद्धि की जाती है। महायोगी गोरखनाथ ने कहा है कि मन के द्वारा कल्पित समस्त बाह्य साधना के अंगो का परित्याग कर एकमात्र अमनस्कयोग का ही सेवन करना श्रेयस्कर है। उनका स्पष्ट और सहज उपदेशामृत है-

तस्मात् तत्सकलं मनोविरचितं त्यक्त्वाऽमनस्कं भज।
(अमनस्कयोग १ / २०)

उन्होंने अमनस्कयोग को सद्यः प्रत्ययकारक बताया है। इसकी साधना से तत्वज्ञान की सहज अनायास प्राप्ति होने पर साधक सिद्ध होकर परमपद

अथवा परमशिव परब्रह्म अलख निरंजन में प्रतिष्ठित हो जाता है।

अमनस्कयोग का गोरखनाथजी की अन्यान्य संस्कृत रचनाओं में महत्वपूर्ण स्थान है। पहले यह ग्रंथरत्न केवल चर्चा का विषय था, पर जिज्ञासा-जगत् के लिये यह ग्रन्थरत्न अधिक दिनों तक प्रच्छन्न न रह सका। महामहोपाध्याय गोपीनाथजी कविराज महोदय ने इसके बंगला लिपि में एक संस्करण का दर्शन किया था। श्रीयोगनाथ स्वामी को इस ग्रंथरत्न की खोज करते समय कन्नड़ लिपि में प्रारम्भ के ६८ श्लोक मिले और अनवरत परिश्रम के परिणामस्वरूप उन्होंने राजस्थान, सौराष्ट्र, नेपाल आदि के नाथयोगसम्प्रदाय के प्रसिद्ध संस्थानों, मठों में खोजकर अपरभाग-अमनस्कखण्ड के शेष ११३ श्लोकों की प्राप्ति भी की। योगनाथस्वामी महोदय ने 'सिद्ध-साहित्य-संशोधन मण्डल' पूना से सम्वत् २०२४ वि० में अमनस्कयोग का हिन्दी में भाषान्तरसहित प्रकाशन किया। गोरखनाथ-मंदिर, गोरखपुर के तत्वावधान में प्रकाशित होनेवाले प्रस्तुत संस्करण में पूना-संस्करण का ही पाठ न्यून परिवर्तन के सहित देने का प्रयास किया गया है, यद्यपि यह पाठान्तर नगण्य ही है। इस अमनस्कयोग ग्रंथरत्न के प्रकाशन के लिए श्रीयोगनाथ स्वामी के प्रति हम आभार-ज्ञापन करते हैं और स्वीकार करते हैं कि यदि उन्होंने इतना मनोयोगपूर्वक श्रम न किया होता तो अमनस्कयोग ग्रंथ का शाब्दिक दर्शन दुर्लभ ही था।

इस ग्रंथरत्न के सम्पादन में मुझे गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज ने जो प्रोत्साहन और सत्प्रेरणा दी है, वह उनका आर्शीवाद ही है। मैं महायोगी गोरखनाथ की यौगिक दिव्य विभूति की वन्दना करते हुए महन्त श्री .... के श्रीगोरखनाथसम्बन्धी योगवाङ्मय के प्रकाशन-संकल्प की पूर्ति की दिशा में इस ग्रंथ के सम्पादन और प्रकाशन को अपना सौभाग्य समझता हूँ। इस अमनस्कयोगग्रंथरत्न के साधना-जगत् की जिज्ञासा का सहज समाधान होगा।

आनन्दसदन, अलीनगर,
गोरखपुर
रामनवमी, २०३७ वि०

रामलाल श्रीवास्तव
सम्पादक 'योगवाणी'

अमनस्कयोग की साधना

शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथजी ने अपने सिद्धमत में साधना की सिद्धि की पृष्ठिभूमि में मन की अमनस्कता-उन्मनीकरण पर अत्यधिक बल दिया है और इस उन्मनी अवस्था की कैवल्यस्वरूपिणीज्योति अथवा अलखनिरंजन के साक्षात्कार के रहस्य की अनुभूति पिण्ड में साम्यरस्यसिद्धान्त के स्तर पर की है। उन्होंने कहा है :-

पिण्डे सर्वगतं विधानममलं सिद्धान्तसारं वरम्।
(सि० सि० प० ६/६३)

हमारे सिद्धामृत मार्ग अथवा नाथयोग में यही चरम प्रतिपाद्य परमोत्कृष्ट सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का प्राण है द्वैताद्वैतविवर्जितवाद। यह सिद्धान्त "अद्वैतोपरि सदानन्द देवता" की अपरोक्षानुभूति का पोषण करता है, यही नाथयोग का गुह्यतम मर्म है। महायोगी गोरखनाथ की विज्ञप्ति है कि शून्य, निरंजन, परमपद, परमशिव ही निरंजन है। सिद्धमत में यह निरंजन ही परमात्मा है।

अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति।
(सि० सि० प० १/१७)

इस परमपद की प्रतिष्ठा मन की उन्मनी स्थिति में है। यही अमनस्कयोग साधना का परम निगूढ़ रहस्य है। प्राणीमात्र पर अहैतुक कृपा करने के लिए, उन्हें कायिक, वाचिक और मानसिक अन्धकार से बाहर निकालकर परमात्मास्वरूप में प्रतिष्ठित कर भव-सागर से पार उतारने के लिए गुरूगोरखनाथ ने शाश्वत, सनातन प्राणसंजीवनी के रूप में महाज्ञानस्वरूप योगामृत का प्रकाशन किया। उनकी योगबीज, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, महार्थमंजरी, गोरक्षसंहिता, विवेकमार्तण्ड, योगमार्तण्ड तथा अमनस्कयोग आदि संस्कृत रचनाओं में तथा भाषा में उपलब्ध "गोरखबानी" जैसी महनीय कृति में उनके योग का प्रतिपादन सहज

सुलभ है। अण्ड-पिण्डगत समस्त ब्रह्माण्ड-परिव्याति के स्तर पर शिवपद-परमपद में सामरस्य के स्थापना द्वारा अमनस्क की सिद्धि ही नाथयोग का सनातन अमृतस्रोत है, जो अनन्त है, अकाल है, अनादि है, अस्ति-नास्ति दोनों अवस्थाओं से विलक्षण अथवा विवर्जित स्वसंवेद्यत्व है।

चित्त की संचलता पर नियंत्रण प्राप्त कर लेना योगसाधना की सिद्धि के पथ में एक महान प्रयोग् है। जब तक चित्त चंचल है, तबतक साधक प्राणशक्ति पर स्वामित्व स्थापित नहीं कर सकता और इस तरह चित्त की चंचलता और प्राण की असमर्थता से योग में सफलता मिलना बड़ा कठिन है, चित्त की चंचलता का निरोध ही मन की वृत्तियों के निरोधपूर्वक अमनस्क भाव की उपलब्धि है। महायोगी गोरखनाथ ने अपनी भाषारचना "सिष्टपुराण" में चित्त की चंचलता को सबसे बड़ा रोग कहा है, उससे बड़ा कोई रोग है ही नहीं। उनका कथन है :-

चित चंचल उपरांति रोग नाहीं।

(सिष्टपुराण)

इस रोग का निराकरण अलख-निरंजन की अपरोक्षानुभूति से ही होती है और अपरोक्षानुभूति का माध्यम है मन का उन्मनीकरण अथवा अमनस्कयोग का अभ्यास। नाथयोग में अमनस्कता का तात्पर्य अतिमानसता नहीं है, अतिमानसता प्राण और मन के लय की स्थिति है, इस स्थिति से ऊँकारातीत शून्यावस्था ही अमनस्क्ता का पर्याय है, जिसमें एकमात्र निरंजन परमतत्व परमेश्वर ही परिव्याप्त होता है, यही ध्यान की परिपूर्णावस्था है, इसी अमनस्कता अथवा ध्यानातीत अवस्था को दृष्टि में रखकर महायोगी ने 'सिष्टपुराण' की अन्तिम पंक्ति में कहा है -

निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं।

निरंजनतत्व की अपरोक्षानुभूति ही आत्मज्ञान की चरम परिणति महायोगज्ञान है, इसी का शिवसंहिता में शिव ने परिलक्षण किया है कि एक ज्ञान ही नित्य और आदि-अन्त से रहित है, जगत् में ज्ञान से भिन्न अन्य वस्तु नहीं हैं, यही आत्मज्ञान स्वरूपाभिव्यक्ति की प्रतीक, सच्चिदानन्दस्वरूप की परमज्योति है।

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यम्।
(शिवसंहिता १/१)

इसी परमज्ञान में मन की विलीनता- सहज-शून्य में निरंजन मायातीत स्थिति ही अमनस्कयोग की सिद्धि का स्तर है। शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ ने इस अमनस्कयोगविद्या को अमृतत्व की प्रतिपादिका सनातन-अक्षय और मायातीत कहा है। यह कला-उत्कृष्ट योगप्रक्रिया साधक के लिए योगसिद्धि की दिशा में परमानन्दप्रदायिनी है। योगेश्वर गोरखनाथजी की अमृतमयी विज्ञप्ति है:

अमृतोद्दीपन विद्या निरपाय निरंजना।
अमनस्का कला कापि जयत्यानन्ददायिनी।।
(अमनस्योग २/२१)

अपनी अमनस्कयोग रचना में गोरखनाथजी ने वामदेव और शिव के योगपरकसंवाद के रूप में अमनस्कत्वपर प्रकाश डाला है। शिव ने वामदेव की जिज्ञासा के समाधानरूप में तारकयोग के रहस्य, योगीगुरू के लक्षण और महत्व अथवा गुरूत्व, योगसाधना के स्थान, योगासन, क्रियायोग आदि का प्रतिपादन करते हुए मन के निरंजन परमात्मतत्व में विलीनीकरण अथवा लय-साधना का मर्म अत्यन्त सरल-सुबोध भाषा में समझाया है।

अमनस्कयोग में दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में साधना के स्तर पर बाह्याडम्बर और व्यर्थ की बाह्य साधना के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है। आसन, बन्ध, मुद्रा आदि में श्रम को समय का अपव्यय कहा गया है, अज्ञान कहा है। षटचक्रों के बेधनस्वरूप उनमें ध्यान-क्रिया को चित्त का विभ्रमभाव कहा गया है और अन्ततः अमनस्कता की साधना के ही वरण पर विशेष बल दिया गया है। योगसाधना से प्राप्त अष्ट सिद्धियों को परमतत्व के साक्षात्कार के मार्ग में अश्रेयस्कर बताया गया है। प्राण में मन के और मन में प्राण के लय के द्वारा अजरत्व और अमरत्व को योगाभ्यास का श्रेय कहा गया है। अजरता और अमरता की मनोलय के स्तर पर प्राप्ति से महाप्रलय होने पर भी योगी का पात अथवा लय या क्षय नहीं होता। दूसरे खण्ड में तारकयोग

और अमनस्कयोग में भेद का निरूपण उपलब्ध होता है। इस अमनस्कखण्ड में शाम्भवी मुद्रा के रहस्य और शाम्भवयोग तथा मन के सम्पूर्ण लय अथवा अमनस्कविद्या के स्वरूप का विवेचन किया गया है। परम कारूणिक गोरखनाथ ने इस यौगिक कृति में बाह्याडाम्बर तथा हठयोग के नाम पर प्रचलित बाह्य अनावश्यक साधन-क्रमों की साधक के लिए उपेक्षा अथवा तटस्थता को ही श्रेयस्कर कहा है। अमनस्कविद्या वास्तव में योग की महाविद्या है।

मन की शक्ति अप्रमेय है। नाथयोग में और विशेषरूप से महायोगी गोरखनाथ की करूणा दृष्टि में मन साक्षात् शिव-स्वरूपा शक्ति और शक्ति का सहज अधिष्ठान शिव है, जीवात्मा का अभिन्नशिवस्वरूप है और इन सभी विधाओं से अतीत परमशिव है, यह परमशिवस्परूपावस्थिति ही उसकी निरंजन अमनस्कता है। हमारे सिद्धमत में कहा गया है-

यहु मन सकती यहु मन सीव।
यहु मन पाँच तत्व का जीव।।
यहु मन ले जै उनमन रहै।
तो तीनि लोक की बातां कहै।।
(गोरखबानी सबदी ५०)

योगसाधना में सिद्धि मन को सम्पूर्ण वश में करने (लय करने) का चरम फल है। यह मन योग के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। इस मन को योगी उन्मन रखता है, परमात्मचिन्तन के अभिमुख रखता है। मन को शून्यपद ब्रह्मरन्ध्र में स्थित करना ही योगी की उन्मनी अवस्था की प्राप्ति कही जाती है। मन फिर उस पद से वापस नहीं होता है, नहीं उतरता। मन के उन्मन होने पर चन्द्रस्राव का पान करने पर पिण्ड में ही स्थित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का तात्विक अभिज्ञान योगी की बुद्धि में अभिव्यक्ति हो उठता है, वह उनका प्रत्यक्ष दर्शन (साक्षात्कार) कर परमात्मस्वरूप के अनुभव से कृतार्थ हो जाता है। अमनस्कयोग की साधना मनोवैज्ञानिक होकर भी आत्मवैज्ञानिकता के प्रकाश में साधक को स्वरूपानुभूति की परमचिन्यम ज्योति अथवा आत्माभिव्यक्ति में

प्रतिष्ठित करती है। अमनस्कयोग गोरखनाथजी की साधना-जगत् को मौलिक देन है, जो महर्षि पंतजलिप्रतिपादित असम्प्रज्ञातसमाधि के परे की मन की महालयावस्था है। योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने इस महालयावस्था को शून्य के रूप में मन का वासस्थान बताया है। मन ऐसे तो हृदय से अतीत होता है, पर यदि हृदय से अतीत होता है, उन्मन होकर अमनस्क होता है तो वह शून्य में ही महालयस्थ हो जाता है। गोरखनाथजी ने गुरू मत्स्येन्द्रनाथ से पूछा कि यदि हृदय न होता तो मन कहाँ रहता। मत्स्येन्द्रनाथ ने तत्काल उनकी जिज्ञासा का समाधन किया।

अवधू हिरद न होता तब सुंनि राता मन।
(मछीन्द्रगोरष-बोध २८)

मन के स्वरूप पर हमारे परमपूज्य सिद्धपुरूष गम्भीरनाथजी ने (योगरहस्य के पृष्ठ ७६ पर) कहा है कि केवल मात्र समाहितचित्त योगियों की ही चांचल्य निवृत्ति होती है- संकल्प-विकल्प ही मन है। मन नाम की कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। संकल्प-विकल्प के प्रवाह को ही मन कहा जाता है। ये तत्वप्रकाश में बाधा डालते हैं। मनुष्य जितने दिन तक योग में समाहित होकर अमरत्व नहीं प्राप्त कर पाता, तब तक संकल्प-विकल्प से मुक्ति नहीं पाता। संकल्प-विकल्प के नाश से ही मनोनाश होता है और तत्वज्ञान की स्फुरणा होती है। संकल्प-विकल्प की लयावस्था ही मन की अमनस्कता है। हमारे नाथसिद्धों ने मनोलय के स्तर पर अत्यन्त समन्वयात्मक शास्त्रसम्मत दृष्टिकोण अपनाते हुए भी नाथयोग के सिद्धान्त की विशिष्टता सुरक्षित रखी है। 'नाथयोग में मनोलय एक अत्यन्त गूढ़ और रहस्यात्मक साधन-प्रक्रिया का मौलिक दृष्टिकोण है ।

समुद्र की अनन्तता का अन्त मिल सकता है, उसकी लहरों के पार जाना सम्भव है, पर मन की रहस्यात्मकता का पार पाना कठिन है। मन की वृत्तियों का लय होने पर ही अंजनरहित निरंजनपद की प्रतिष्ठा प्रकाशित होती है। सिद्धकृष्णपाद की वाणी है :-

समदां की लहर्याँ पार जुपाइला।

मनवा की लहर्‌याँ पार न आवै रै लो।।

(नाथसिद्धों की बानियाँ ५८)

निःसन्देह हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्त और मन तथा बुद्धि से अगोचर व्योम (शून्य) विज्ञानानन्दस्वरूप परमतत्व की अपरोक्षानुभूति के लिए अमनस्कता की साधनसापेक्षता अनिवार्य है। जिस तरह घी में घी मिलने पर घी हो जाता है, दूध में दूध मिलने पर दूध हो जाता है, उसी तरह अमनस्कता के स्तर पर तत्व में समाहित होकर योगी तत्वाकार हो जाता है। वह नित्य शक्तितत्वानन्दस्वरूप शक्तिमान् परमेश्वर हो जाता है, यही सिद्धमत का स्वारस्य है और अमनस्कयोग का श्रेय है। महायोगी गोरखनाथ ने मन के अवारित रूप को ही अपनी-योग-प्रक्रिया में प्रश्रय दिया है। उनका कथन है :-

अवधू यो मन जात है याही तै सब जांणि।
मन मकड़ी का ताग ज्यूं उलटि अपूठौ आंणि।।

(गोरखबानी सबदी २३४)

आशय यह है कि मन बड़ा ही चंचल है, इसका निग्रह बहुत ही कठिन है, यह क्षण-क्षण में अस्थिर होता रहता है। अवधूत के प्रति गोरखनाथजी का निर्देश है कि मन का निग्रह करना आवश्यक है। समस्त सृष्टि, उसके अधिष्ठाता और अधिष्ठात्री तथा उसमें जन्म लेने वाले और मरने वाले शरीरधारी जीव सब-के-सब इसी मन के ही स्वरूप, अरूप, और रूप है। जहाँ से मन को न तो रोकना चाहिए और न चंचल होने देना चाहिए। जहाँ से मन की चंचलता आरम्भ होती है, उसे वहीं वापस ले जाना चाहिए। जिस तरह मकड़ी जाल से बाहर निकलने पर उसमें वापस जाने में ही अपनी सुरक्षा समझती है, ठीक इसी तरह मन का धर्म स्थिरता है, वह स्थिर होने पर ही सुरक्षित रहता है, स्थिर मन ही उन्मन अथवा अमनस्क होकर योगसाधना को सिद्धि कर देता है।

यह अच्छी तरह समझ लेने का विषय है कि हठयोग में प्राण-अपान के संगम पर मनोबल विहित स्वीकार किया गया है पर अमनस्कयोग के धरातल पर

मन का सम्पूर्ण सहज स्वाभाविक उन्मनीकरण ही राजयोगसिद्धि की चरम अथवा अन्तिम भूमिका है। यही मन का आत्यन्तिक लय है, जिसका फल है ब्रह्मत्व में समाहित होना। यह अमनस्क सिद्धान्त ही द्वैताद्वैतविलक्षण योगदर्शन का, निरूपाधि ब्रह्मसाधना का अथवा अवाच्य निरंजन परमात्मा के साक्षात्कार का प्रकाशस्तम्भ है। इस अमनस्क विज्ञान से परमतत्व का निर्वचन सम्भव होता है।

महायोगी गोरखनाथ ने अमनस्कयोग के अमनस्कखण्ड में इस बात की पुष्टि की है कि योगी को किसी भी विषयवस्तु का चिन्तन न करते हुए सहज स्वरूप में, निरंजन परमशून्यतत्व में समाहित रहना चाहिए। उसे वाणी, मन और शरीर में लेशमात्र भी संक्षोभ का अनुभव नहीं करना चाहीए। जब तक संक्षोभ है, चिन्तन और संकल्प की कल्पना है, तब तक अमनस्क स्थिति की प्राप्ति नहीं हो सकती और न तो तत्वसाक्षात्कार, स्वरूपावस्थान ही सम्भव है।

न किञ्चिच्चिन्तयेद्योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किञ्चिच्चिन्तनादेवं स्वयं तत्व प्रकाशते।।
वाङ्मनःकायसंक्षोभं प्रयत्नेन विवर्जयेत्।
शिलाचित्रमिवात्मानं सुस्थिरं धारयेत् तदा।
यावत् प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत् संकल्पकामना।
अहं त्वमिति सम्प्राप्तिस्तावत्तत्त्वस्य का कथा।।
(अमनस्कयोग २/५५, ५७, ५८)

गोरखनाथजी ने "गोरखबानी" में एक अत्यन्त महत्व की बात यह कही है कि तन ही पोथी (कागज) है और मन ही लेखनी है, उसमें निषपत्ति अथवा मुक्ति ही अक्षरलिपि हैं

तन मेरे पोथी मन मेरे लेखनी।
एती निज तत निसपती।
(गो० बा० दयाबोध १२)

इसका आशय यह है कि तन और मन के अजरत्व-अमरत्व और अमनस्क के सहारे अलख-निरंजन के ही साक्षात्कार में योगी को निरन्तर तल्लीन रहना चाहिए। निरंजन रूपातीत है, ऐसा गुरूगीता में कहा गया है कि 'रूपातीतं निरंजनम्।" इस रूपातीत निरंजन का परिचय ही अमनस्कसाधनसापेक्ष है, जब तक मनोलय की महा-अवस्था नहीं सिद्ध होती है, तब तक रूपातीत निरंजन का साक्षात्कार कल्पनामात्र है। केवल अमनस्क की कोरी कल्पना कर लेने से अथवा यह मान लेने से कि मन विषयप्रपंच के रस्वादन में अनासक्त होकर आत्म चिन्तन में उन्मन होता जा रहा है, सिद्धि का हाथ लगना असम्भव है। अमनस्कयोग की साधना अन्य योगसाधनों की तरह क्रियासापेक्ष है।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिर्स्यादक्रियस्य कथं भवेत्।
(हठयोग प्र० १/६५)

निरन्तर योगाभ्यास से ही मन स्थिर और उन्मन होता है। अमनस्कयोग साधना के स्तर पर अथवा चिन्तनभूमि पर यह सर्वदा निर्विवाद है कि अमनस्कता की साधना अन्तरंग है, बहिरंग साधना में इसकी न तो परिगणना है और न बहिरंग साधन आसन, मुद्रा, बन्ध आदि की इसके लिये उतनी आवश्यकता है, जितनी योगसाधना की दृष्टि से अन्य अभ्यासों में इसकी अपेक्षा न्यूनाधिक स्वीकार की गयी है। योगोपनिषद् में महायोग की बात कही गयी है कि स्वाभाविक योग तो एक ही है। वह महायोगनाम से ख्यात है। भूमिकाक्रम और अवस्था-भेद के अनुसार यह एक महायोग ही मंत्र, हठ, लय और राजयोग के रूप में उदय होता है।

मंत्रोलयोहठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।।
(योगशिखोपनिषद् १/१२६-१३०)

इसी महायोग-भावना का पोषण हमारे योगेश्वर गोरखनाथजी ने अपनी प्रसिद्ध रचना योगबीज के १४३-१४४ वें श्लोक में किया है और इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण में उन्होंने योगसाधना के अन्तरंग पक्ष को ही श्रेय प्रदान किया है। अमनस्कयोग की रचना में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश,

पंचभूत और मनस्तत्व (छठे) से अतीत सप्तम तत्व के रूप में परमतत्व की प्राप्ति को ही महायोगज्ञान की परमसिद्धि कहा है, यह सिद्धि मन के उन्मनीकरण में सहज संश्लिष्ट है।

यस्मादुत्पद्यते सर्वं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यस्मिन् विलीयते सर्वं परतत्वं तदुच्यते।।
भावाभावविनिर्मुक्तं विनाशोत्पत्तिवर्जितम्।
सर्वसंकल्पनातीतं परतत्वं तदुच्यते।।
(अमनस्कयोग १/२३-२४)

यह परमतत्व समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त है, समस्त कामनाओं से परे है। जन्म और मरणरूप बन्धन को नष्ट कर देने वाला है। यह परमतत्व अन्तरंग साधनासापेक्ष है। यह परमतत्व निरालम्ब, अमूल, अम्लान और मायातीत स्वरूपतः निरंजन और निष्प्रपंच है। इसका तो अनुभव ही किया जा सकता है बहिरंग साधना की इस दिशा में तनिक भी अपेक्षा नहीं दीखती है, न होती ही है। महायोगी गुरू गोरखनाथजी ने स्पष्ट इस तत्व की ही संस्तुति की है।

जयत्यमूलममलानमौत्तरं तत्वमद्वयम्।
(महार्थमंजरी)

तारकयोग में तो मन साधना में सहायक है पर उत्तरयोग अथवा अमनस्क साधना में मन की स्थिति उन्मनी हो जाती है, मन तत्वाकार होकर सदा के लिए महालय हो जाता है। यद्यपि असम्प्रज्ञात समाधि में और अमनस्क स्थिति में मनोनाश अथवा मनोलय प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, पर केवल मनोलय से ही सत्यतत्व की प्राप्ति का प्रतिपादन नहीं होता है। मन की निवृति हो जाने मात्र से ही योगज्ञान में तत्व-साक्षात्कार नहीं होता। मन का लय यद्यपि बहुत आवश्यक प्रक्रिया है, तथापि उस मनोलय का फल सत्यस्वरूप का बोध है, यह

बोध अमनस्क योग की साधना में ही साध्य है और इसलिए गोरखनाथजी ने अमनस्कयोग की रचना कर अन्तरंग साधना में उन्मनी अवस्था की प्राप्ति की विद्या का निरूपण किया। केवलमात्र मनोलय होने पर मन चंचल हो सकता है, पर यदि मनोलय ब्रह्मतत्व अथवा अलख-निरंजन तत्व के साक्षात्कार का माध्यम हो जाता है तो वह सदा स्थिर और अचंचल तथा समाधिस्थ या समाहित रहता है। यद्यपि नाथपंथ में हठयोग की अनिवार्यता स्पष्ट है, तथापि उसकी परिणति राजयोग है। हठयोग के साधनस्तर पर समाधि, उन्मनी, लय, परमपद, अद्वय, निरालम्ब तथा सहज राजयोग के ही पर्याय स्वीकार किये हैं। हठयोग के बहिरंग साधन आसन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध आदि के परिणामस्वरूप जब तक देह में प्राणशक्ति स्थिर है और मन स्थिर और शान्त है तथा चक्रध्यान के फलस्वरूप दृष्टि भौंहों के मध्य में एकाग्र है, तब तक मृत्यु का भय नहीं है, पर इस कालवंचन के परे की स्थिति में अजरत्व-अमरत्व की सिद्धि में अथवा तत्व में प्रतिष्ठिा की संस्थिति अन्तरंग साधना की परम अवस्था-अमनस्कता में ही सहज सिद्ध है। हठयोग के महनीय आर्चाय योगी स्वात्माराम ने कहा है कि जब प्राण (वायु) का प्रवेश सुषुम्ना में हो जाता है और मन स्थिरता प्राप्त कर लेता है, तब वही अवस्था, मन की अमनस्कता की स्थिति ही उन्मनी अवस्था है। हठयोग और राजयोग के समन्वयात्मक साधन मे यही उन्मनी परा सिद्धि है।

मारूते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यप्रजायते।
यो मनः सुस्थिरी भावः सैवावस्था मनोन्मनी।।
(हठयोगप्रदीपिका २/४२)

योगीराज गोपीचन्द ने इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को महत्व दिया है।

पवन कूं प्रेरिबा पछिम दिसि फेरिबा।

अपानं प्रांण कौ उलटि मेलै।
नाद गगनै बहै ब्यंद अस्थिर रहै।
जोग करि जनम नहि गमै हेलै।
पवन थिरंतां कंध थिर। मन थिरंतां व्यंद।
व्यंद थिरंतां कंध थिर। यों भाषम गोपीचन्द।।
मन राजा मन प्रजा। मन सयल का बन्ध।
मन कूँ चीन्हि पारगांमी भये। राजा गोपीचन्द।
(नाथसिद्धों की बानियाँ १०५-१०७)

नाथसिद्ध योगीराज चरपटनाथजीने भी इसी साधना-स्तर को मान्यता दी है।

थिर कांरे मनवां द्रिढ़ करि चित।
काया पवन पषालै नित।
अभरा भरौ ज्यूं थिरवै कंध।
न उड़ै हंसा न पड़ै जिन्द।।
(नाथसिद्धों की बानियाँ १८८)

पवन के संयम और मन की स्थिरता से जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, और तत्व का परिचय होता है। इतना विचारणीय है कि इस साधन-सम्बन्धी समन्वयात्मक बहिरंग और अन्तरंग दृष्टिकोण में मनोलय तो है, प्राणायाम की सिद्धि तो है और जीवन्मुक्ति भी है, पर वास्तविक मनोन्मनी दशा का उदय हुए बिना तत्व का परिचय होने पर भी तत्व में प्रतिष्ठा शेष रह जाती है।

गोरखनाथजी ने कहा है, 'अमनस्कयोग पाँच भौतिक तत्त्व- क्षिति, जल, पावक, समीर और आसमान तथा छठें तत्व मन को वश में कर लेने पर निरंजन (सातवें तत्व) का साक्षात्कार ही नहीं होता, उस परमात्मसत्ता में मन भी अन्तर्लीन हो जाता है।'

प्रथमं पृथिवीतत्वं जलतत्वं द्वितीयकम्।
तेजस्तवं तृतीयं च वायुतत्वं चतुर्थकम्।।
आकाशं पंचमं तत्वं मनः षष्ठमुदीरतम्।
सप्तमं परमं तत्वं यो जानाति स मोक्षभाक्।।
परं तत्वं समाख्यातं जन्मबन्धविनाशनम्।।
(अमनस्कयोग १/२६-२८)

इसी तथ्य का पोषण महायोगी गोरखनाथजी ने 'गोरखबानी' में भी किया है। उन्होंने योगी को- योगसाधक को सावधान किया है कि हे योगी ! पाँचों तत्व क्षिति, जल, पावक, समीर और गगन को यौगिक प्रक्रिया अथवा साधना के द्वारा धारणा कर उन पर विजय पा जाने से, उन्हें वश में कर लेने से अलखनिरंजन निराकार परब्रह्म (परमशिव) का साक्षात्कार सहज सुलभ हो जाता है। इसी तरह मनरूपी गज को साधना के अंकुश से अपने वश में कर लेने पर तथा मन को उन्मन कर ब्रह्मरन्ध्र में विलीन कर देने पर अक्षयभण्डार सहस्रार से झरता अमृत उपलब्ध हो जाता है। भौतिक प्रपंच से परे होकर मन को वशीभूत कर लेने पर परमात्मतत्व की प्राप्ति हो जाती है।

पंच तत्त सिधां मुड़ाया तब भेटिलै निरंजन निराकारं।
मन मसत हस्ती मिलाइ अवधू, तब लूटिलै अषै भंडारं।।
(गो० बा० सबदी ६७)

महायोगी गोरखनाथजी ने आसन, प्राणायाम आदि बहिरंग-साधना को उतनी ही सीमा तक स्वीकार किया है, जिसमें अन्तरंग-साधना में सहायता मिलती है। हठयोग की सार्थकता तो इसमें है कि वह राजयोग की सिद्धि की सीढ़ी है अथवा अधिरोहिणी है। हठयोगप्रदीपिका के रचयिता की इस स्वीकृति में बहिरंग अन्तरंग-साधनाओं की सहज संश्लिष्टि की सिद्धि की परा प्रतिष्ठा है।

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै।
येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोग
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।
(हठयोगप्रदीपिका १/१)

यह हठयोग-विद्या शरीर में पवन-प्राण की स्थिरता और मन की अचंचलता को सुदृढ़तापूर्वक स्थापित करनेवाली योगविद्या है, जिसके द्वारा साधक की उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है और यह राजयोग का चरमफल प्राप्त कर लेता है। योगसाधना में तत्व-साक्षात्कार के लिए हठ और राजयोग- दोनों की परम अपेक्षा है।

हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः।
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्।।
(हठयोगप्रदीपिका २/७६)

प्राणतोषिणी में भी हठयोग की महिमा का अंकन उपलब्ध होता है कि हठयोग की साधना के द्वारा साधक को परमात्मज्योति से सम्पन्न अन्तर में शिवतत्व का साक्षात्कार कर शिवरूप हो जाना चाहिए। यह हठयोग सिद्धों द्वारा सेवित होकर योगसिद्धि प्रदान करता है।

हठाज्ज्योतिर्मयो भूत्वा ह्यान्तरेण शिवो भवेत्।
अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः।।
(प्राणतोषिणी)

हमारे योगाचार्य परमश्रद्धेय महामति गम्भीरनाथजी ने कहा है (योगरहस्य पृष्ठ ८१) कि केवल हठयोग तो कसरत मात्र है। राजयोग की सहायता करने में ही हठयोग की सार्थकता है। हठयोग द्वारा कितनी ही शक्तियाँ और विभूतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं सही, किन्तु उनसे जीवन की कृतार्थता

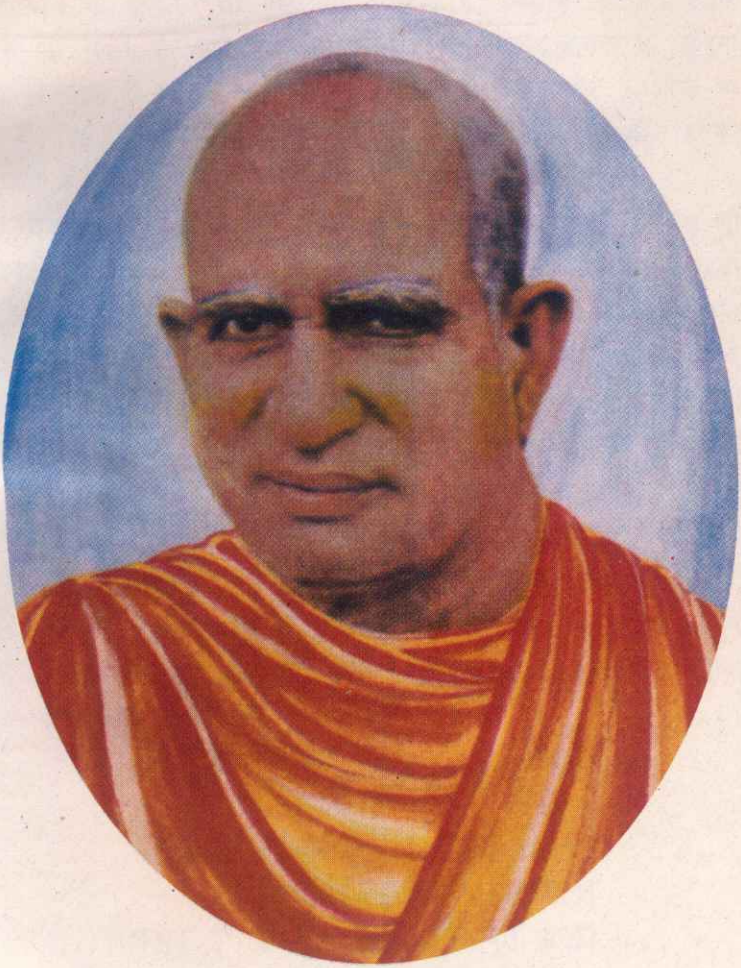

युग पुरूष महन्त दिग्विजय नाथ

नहीं होती, मोक्षप्राप्ति नहीं होती। राजयोग में अधिकार प्राप्त करने के लिए एवं राजयोग में सहज ही सिद्धि प्राप्त करने के लिए हठयोग से बड़ी सहायता मिलती है। हठयोग के अन्दर ऐसी गुह्य साधन-पद्धति है, जिसका नियमित रूपसे अभ्यास कर सकने पर अति सहज ही राजयोग की अन्तरंग-साधना में पहुँचना सम्भव हो जाता है एवं अन्तःकरण अति सहज ही तत्वसाक्षात्कार के योग्य हो जाता है। यह राजयोग अन्तरंग-साधना की ही एक विद्या है और इसकी परिपक्वता से उन्मनी अवस्था की सिद्धि में सहायता मिलती है।

नाथयोग में यद्यपि विभिन्न नाथसिद्धियों और योगाचार्यों ने हठयोग की आवश्यकता पर बल दिया है तथापि अन्तरंगसाधना को ही यौगिक सिद्धि अथवा तत्वप्राप्ति की आधारशिला स्वीकार किया गया है और उसकी अन्तिम स्थिति मनोलय की महावस्था या उन्मनी बतायी गयी है। महायोगी गोरखनाथ ने अमनस्कयोग की सिद्धि के स्वरूप का प्रकाशन किया है कि जिस तरह नमक पानी में घुल-मिल कर जल हो जाता है, उसी तरह मन ब्रह्म के सम्पर्क से ब्रह्ममय हो जाता है अथवा बह्म का आकार धारण कर लेता है, आकार धारण करने की शक्ति मन में नहीं है, उसमें लीन हो जाने की- लयावस्था प्राप्त करने की ही शक्ति है, वह ब्रह्म-ज्ञानमय होकर निर्वाणपद में प्रतिष्ठित हो जाता हैं घी में मिलने पर घी जिस तरह घी हो जाता है, ठीक उसी तरह तत्व में लीन होने पर योगी तत्वस्वरूप हो जाता है। योगी द्वारा तत्वस्वरूप-स्थिति की प्राप्ति अन्तरंग-योगसाधना की अन्यतम महती सिद्धि है।

लवणं तोयसंस्पर्शाद् यथा तोयसमं भवेत्।
मनोऽपि ब्रह्मसंस्पर्शात्तथा ब्रह्ममयं भवेत्।।
यथा क्षारमयत्वेन प्राप्यते लक्षणं स्वकम्।
ब्रह्मज्ञानमयत्वेन निर्वाणं मनसस्तथा।।
घृतात् पृथक्ता रहितं घृते लीनं घृतं यथा।
तत्वेलीनस्तथा योगी पृथग्भावं न विन्दति।।
(अमनस्कयोग १/४३-४५)

महायोगी गोरखनाथ ने अपनी अन्तरंग-साधना में पिण्ड-ब्रह्माण्डपद में

सामरस्य, प्राणलय, मनोलय, चक्रवेध, जीवनमुक्तिक्रम, कैवल्य, नादसन्धान तथा ऊँकार से भी परे निष्कल शिवपद की प्राप्ति को महत्व दिया, उनमे से किसी एक को भी उन्होंने योगसिद्धि का वाह्य अंग (आडम्बर) नहीं होने दिया। उनके द्वारा निर्दिष्ट समस्त योगांग अमनस्कयोग की सिद्धि के अत्यन्त आवश्यक उपकरण अथवा सहायक साधन हैं। यद्यपि नाथयोग की पूर्णता अथवा प्रतिष्ठा- महतीसिद्धि स्वसंवेद्यता की प्रतीक है तथापि स्थूल वेद, श्रुतिप्रतिपादिता निर्वाणसिद्धान्त उसी से प्रेरणा ग्रहण करता है। माध्यन्दिन श्रुति की स्पष्ट विज्ञप्ति है कि ब्रह्मनिष्ठ इस मर्त्य शरीर में अभिमान (अहंता) का त्याग कर बह्म श्रवण तथा ब्रह्मभाव से भावित होकर ब्रह्मस्वरूप का अनुभव कर है।

स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमभिसृज्य
ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा श्रृणोति ब्रह्मणो-
वेदं सर्वमनुभवति।

यह ब्रह्म-आकारिता, स्वरूपप्राप्ति तभी सम्भव होती है, जब मन उन्मनी भाव में अधिष्ठित होकर ब्रह्मलीनता में समाहित हो जाता है, ऐसी उन्मनी अवस्था में मन अमनस्क या तदाकार हो जाता है। उन्मनीकरण के द्वारा जीवात्मा का पाश (बन्धन) छिन्न हो जाता है और वह समस्त शक्तियों के मूल अधिष्ठान परम शिव में- परमात्मभाव में स्वस्थ हो जाता है। नाथपंथ की संम्पूर्ण साधना-प्रणालियों का चरम परमपद, परमात्मभाव, पूर्णत्व अथवा शिवत्व की प्राप्ति है। यह परमपद वाच्य-वाचक भेद से रहित है, भाव भाव-अभाव और सत्-असत्, दोनों से परे है, यह निर्नाम अथवा अनाम है, यह स्वप्रकाश, स्वयंपूर्ण है। यह परमपद ही नाथयोग की अन्तरंग-साधना का विशिष्टतम लक्ष्य है।

गोरखनाथजी की स्वीकृति है कि परमपद की प्रतिष्ठा- संस्थिति गुरू की करूण दृष्टि से ही अधिगम्य है, महासिद्धयोगिजन परिमित अपनी देह को परपिण्ड के साथ अत्यन्त शुद्ध चैतन्यभाव से समरस कर स्वसंवेद्य परमपदमें प्रतिष्ठित हो जाते है।

तस्माद् गुरूकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया च महासिद्धयोगिभिः
स्वकीयं पिण्डं निरूत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्तः।
(सि० सि० प० ५/७)

इसी तत्व का स्पस्टीकरण करते हुए महायोगी गोरखनाथ ने कहा है कि जो मुमुक्ष साधक परमशान्ति चाहता है, वह योगतत्वज्ञ गुरू के चरण-कमल का आश्रय ग्रहण करे, उसके द्वारा निर्दिष्ट विधि के अनुसरण से योगाभ्यास में तत्पर होकर वह समरस की प्रणाली से पिण्डसिद्धि और परम निर्वाणस्वरूप परमपद की प्राप्ति कर अपनी अन्तरंग-साधना को सफल कर सकता है।

अनुबुभूषति योनिजविश्रमं
सगुरूपादसरोरूहमाश्रयेत्।
तदनुसंसरणात्परमं पदं
समरसीकरणं न च दूरतः।
(स० स० प० ५/४५)

नाथमत के परिप्रेक्ष्य में यह बात निर्विवाद है कि सदगुरू की कृपा से चित्तविश्रान्तिलाभ करना बहुत ही आवश्यक है। इस चित्त-विश्रान्ति मे सामरस्य की प्राप्ति होती है। नाथयोगी पिण्डसिद्धि के द्वारा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति को बहुत महत्व देते है। इस जीवन्मुक्ति से तथा पिण्डसिद्धि से उनके लिए मृत्यु की चिन्ता समाप्त हो जाती है और इस कालवंचन के उपरान्त समरसीकरण के द्वारा परामुक्ति की सहज सिद्धि होने में तनिक भी संशय नहीं रह जाता। पिण्डसिद्धि और जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त होने पर योगसाधक में ओंकार-साधना के द्वारा परामुक्ति का आविर्भाव होता है। यही नाथस्वरूप में अवस्थान है। अमनस्कयोग की साधना से नाथस्वरूप में अवस्थान अन्तरंग-साधना का कल्पतरू हो जाता है। आशय यह है कि नाथस्वरूप में संस्थिति से समस्त पारमार्थिक तथा आध्यात्मिक सम्पन्नता का निगूढ़ मर्म साधक की सिद्धावस्था में अभिव्यक्त होकर उसे अलखनिरंजन की ज्योति में ज्योतिर्मय कर

देता है। यह ज्योतिर्मयता गुरूकृपा से ही साध्य है।

समाधि की असम्प्रज्ञात स्थिति में जीवात्मा और परमात्मा में द्वन्द्वात्मक भेद की समाप्ति हो जाती है, क्योंकि दोनों मूलतः स्वरूप है, एक है, अभेद है, यही कारण है कि समाधि की सम्प्रज्ञात स्थिति में मनोन्मनी अथवा मन की महालयावस्था का उदय सहज स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि समाधि की इस स्थिति में संकल्प रह जाते हैं, संकल्प का न रहना ही मन की तत्व में तल्लीनता है। महायोगी गोरखनाथ का कथन है :

यत्सर्वं द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते।।
अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवतियोगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधि सोऽभिधीयते।
यदा संक्षीयते प्राणा मानसे च प्रलोयते।
यदा समरसत्वं च समाधिः सोऽभिधीयते।।
न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम्।
नात्मानं न परस्व च योगी युक्तः समाधिना।।
(गोरक्षसंहिता २/८५-८८)

इसका आशय यह है कि सभी द्वन्द्वों का अन्तरूप ऐक्य- जीवात्मा परमात्मा की एकता का ज्ञान प्राप्त कर सभी संकल्पों के नाशपूर्वक योगी अपने ध्येय-परमात्मा अलख-निरंजन तत्व में लीन हो जाय, यही समाधि है। जिस तरह जल में सेंधा नमक डाल देने से दोनों एक हो जाते हैं, उसी तरह आत्मा और मन एक का एक हो जाना समाधि है। जब स्थिर होकर प्राणवायु आत्मा में ही लीन हो जाती है और जीवात्मा-परमात्मा में समरसत्व स्थापित हो जाता है, तो वही समाधि है। जब योगी समाधि में लीन हो जाता है, तब उसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द आदि का तथा अपने-पराये का भान नहीं रहता। इस विवेचन में यह स्मरणीय है कि यह समाधि है और यह साधन-साध्य है और इसके द्वारा सहजसमाधि होने पर, निरंजन तत्व की सर्वत्र परिव्याप्ति की अनुभूति होने पर ही वास्तविक मनोन्मनी का उदय हो जाता है,

जिसमें द्वन्द्व का लेशमात्र नहीं रहता, जिसमें द्वैताद्वैत का भाव नहीं रहता, द्वैताद्वैत-विवर्जित परमात्म अलख-निरंजन तत्व ही शेष-अशेष दोनों अवस्थाओं से अतीत की ओर अभिव्यक्त हो उठता है, यही अमनस्कयोग का परम निगूढ़ रहस्याभिव्यंजन है।

नाद के अनुसन्धान में यद्यपि समाधि की प्रतीति बनी रहती है तथापि ॐकार की- शब्द-ब्रह्म की उपासना स्वसंवेद्यता का वरण कर ॐकारातीत पद में सिद्धि के रूप में परिणत हो जाती है और यह परिणति ही मन की महालयावस्था अथवा पराउन्मनी है। समाधि सिद्धि होने पर शिव-शक्ति का सायुज्य- ऐक्य स्वतः स्पष्ट है पर उन्मनी सिद्धि होने पर न तो शिव के शक्ति के बिना शव मात्र रह जाने का प्रश्न है और न ही शक्ति की कर्तृत्वपरायणता से शिव की सार्थकता या सत्ता है। उन्मनी में तो शिव निष्कल हैं, साक्षात् अलख-निरंजन परम कैवल्यस्वरूप परमेश्वर हैं। महायोगी गोरखनाथ की विज्ञप्ति है :-

निष्कलं निष्प्रपंचं च परतत्वं तदुच्यते।
(अमनस्कयोग १/२२)

इसी निष्कल-निरंजन-निष्प्रपंच परम पद में योगिराज भर्तृहरि को उन्मनी सिद्ध हुई थी। उनकी सबदी है कि जिसमें न अंकुर है, न वीर्य है और न आकार तथा रूप और रेखा है, न ॐकार ही है, न जन्म-मरण है और न उत्पत्ति तथा विनाश-उदय और अस्त है, उसी परमपद में मैंने आत्मलय प्राप्त किया-

अंकुर बीरज नहीं आकार।
रूप न रेष न वो ॐकार।।
उदै न अस्त आवै नहीं जाई।
तहाँ भ्रथरी रह्या समाई।।
(नाथसिद्धों की वानियाँ ६६०)

योगिराज भर्तृहरि ॐकारातीत निष्कल निरंजन परमपद-परमशिव-स्वरूप में मन की उन्मनी समाधि सिद्ध कर अमर हो गये, समा गये। अमनस्कयोग की

सहज-साधना के द्वारा योगिराज भर्तृहरि ने हरिपद का स्पर्श कर लिया, गुरू की कृपा से दिव्यबुद्धि के द्वारा उन्होंने अविनाशी पद में रमण किया।

गुरूसूं ग्यान सूं बुधि भई।
बुधि सूं अकल प्रकासी।।
भनंत भरथरी हरिपदपरस्या सहज भया अविनासी।
(नाथसिद्धों की वानियाँ ६७६)

महायोगी गोरखनाथ ने अपार महायोगज्ञानसागर का अपने अनुभव के मन्दराचल से अमृतमन्थन कर अमनस्कयोगरूपी रत्न के प्रकाश से योगसाधन जगत् को आश्चर्यचकित कर दिया। यह अमनस्कयोग उनकी सिद्धि-कल्पलता का अमृतफल है, जिसका सहज आस्वादन कर जगत् के असंख्य प्राणी विषय-प्रपंच के अथाह भवसागर से पार उतरते आ रहे हैं और यह परम्परा सदा अक्षुण्ण रहेगी। गोरखनाथजी का कथन है :-

मन मांहिला हीरा बीधा सो सोधी नैं लीणां।
सोषाणां सो पीवणां मछिंद्र प्रसादे जती गोरष बोल्या।।
विमल रस जोई-जोई नै मिलणां मेरे ग्यानी।
(गोरखबानी पद ४/५)

मन के द्वारा जीवात्मा परमात्मारूपी हीरे की प्राप्त करता (वेधता) है, मन को अमनस्क अथवा उन्मन करने पर उन्मनी समाधि में परमात्मारूपी हीरक की दिव्य-ज्योति का साधक को साक्षात्कार हो जाता है। यही साधक का सर्वस्व है, आहार-विहार और स्वात्मरमण है। गुरू मत्स्येन्द्र के अनुग्रह से इस परमात्मारूपी हीरक के प्रकाश में निर्मल-सहज रसानन्द मिलता है। शून्य में यही मन का विलय है और इस विलय के बाद योगी कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। हठयोगप्रदीपिका (४/१२) 'शून्ये विशति मानसे' का यही तात्पर्य है। शून्य मं प्रवेश करने पर मन का विलय होता है, इस विलयावस्था में भी तारकयोग में मन का अस्तित्व रहता है पर अमनस्कयोग में मन तिरोहित ही नहीं होता, शाश्वत परमपद में आकारित भी होता है। तिरोधान की अवस्था तारकयोग में

रह सकती है, क्योंकि मन का अस्तित्व अथवा कर्तृत्व उसमें शेष रहता है और तिरोधानस्वरूप मन फिर प्रकट हो सकता है पर अमनस्कयोग की साधना में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि मन का अस्तित्व अथवा कर्तृत्व उसमें शेष रहता है और तिरोधानस्वरूप मन फिर प्रकट हो सकता है पर अमनस्कयोग की साधना में ऐसी बात नहीं हैं, क्योंकि उसमें तत्व-ही-तत्व परिलक्षित है, मन के प्रकट और अप्रकट (तिरोहित) होने का उसमें प्रश्न ही नहीं है। साधना की सिद्ध के लिए अमनस्कयोग के वरण की परम आवश्यकता है पर महायोगी गोरखनाथ ने मत व्यक्त किया है कि योग-साधक को रात-दिन निरन्तर विषय-भोग तथा सांसारिक प्रलोभनों और ममता-मोह के आज्ञानान्धकार में ग्रस्त मन को अन्तर्मुखी करना चाहिए। उन्मनी अवस्था में लीन मन के द्वारा ही मन के द्वारा ही वह आत्मसाक्षात्कार में समर्थ हो सकता है। आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में अथवा निरंजन तत्व के अनुभव की दिशा में विषयोन्मुखी मन ही महान् बाधक है, इसलिए मन को उन्मनी अथवा अमनस्क करना चाहिए।

अहनिसि मन लै उनमन रहै, गम की छाड़ि अगम की कहै।
(गो० बा० सबदी १६)

तारकयोग और अमनस्कयोग, दोनों की ही सिद्धि में गुरू कृपा की सापेक्षता अनिवार्य है, क्योंकि तारकयोग के उपरान्त सम्पूर्ण उन्मनीकरण में साधक पर गुरू की करूणादृष्टि का पात हो जाये तो वह (साधक) परम पद में निःसंशय प्रतिष्ठित हो जाता है। ब्रह्म में मन का उन्मनीकरण अथवा महालय ही योग की यर्थाथ सिद्धि है। परमात्मपद में मन की तल्लीनता गुरू के सदुपदेश तथा कृपामय दृष्टिपात से ही सम्भव होती है।

तारकयोग की विशद और अनुभूतिपूर्ण व्याख्या गोरखनाथजी ने अमनस्कयोग की रचना में आरम्भ के ही श्लोकों में कर दी है और कृपापूर्वक मत व्यक्त किया है कि कई साधक मन्त्रयोग की साधना में लगे रहते हैं, कई ध्यान सिद्धि के मोह में पड़े रहते हैं, कई जप करते हैं, तो आगम-निगम में कई उलझे रहते है, वे तारकयोग जानते ही नहीं नहीं हैं, यह तारकयोग सर्वमंगलकारी है, जब तक सुयोग्य पात्र की प्राप्ति न हो जाय, तब तक गुरू इस योग का उपदेश दे

ही नहीं। यह तारकयोग सब योगों में परमोत्तम है, इसका पूर्वभाग तारकयोग कहा जाता है और अपर भाग अमनस्कयोग कहा जाता है, मन से युक्त योगस्वरूप तो तारक है और मन से अतीत जो योगस्वरूप है, वह अमनस्क है। तारों (आँख की पुतलियों) की ज्योति में लगा कर भौहों को कुछ ऊँची करे-चढ़ा ले। यह पूर्व (तारक) योग का मार्ग क्षण भर में उन्मनी भाव पैदा कर देता है।

पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।
(अमनस्कयोग १/८)

तारिका के उन्मेष से युक्त होने के कारण यह तारक कहा जाता है। यह गुरूमुख से ही प्राप्त होता है। दृश्य के बिना ही जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाय, बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के जिसकी वायु स्थिर हो जाय तथा बिना किसी अवलम्ब के जिसका चित्त स्थिर हो जाय, वही गुरू होने योग्य है, वही सेव्य है, ऐसे गुरू से ही तारकयोग का उपदेश प्राप्त होता है।

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं।
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं
स एव योगी स गुरूः स सेव्यः।।
(अमनष्कयोग १/१४)

अमनस्कयोग की साधना के लिए योगसाधक को सभी तरह की चिन्ताओं से रहित होकर एकान्त स्थान में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर झुक कर स्थिर दृष्टिपूर्वक बैठना चाहिए। इस तरह ही अभ्यास करते मन स्थिर हो जाता है। वायु, वाणी, देह और दृष्टि में भी स्थिरता आ जाती है। जिसको अमनस्कयोग की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उस साधक में उदासीनता, अचंचलता, कोमलता और शारीरिक हल्कापन परिलक्षित होता है। साधक का मन परमतत्व के चिन्तन में तल्लीन होते-होते तत्वाकार हो जाता है।

यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि अमनस्कयोग की साधना में गुरू की सम्मुखता से ही सिद्धि सम्भव है अन्यथा स्वयं हाथ-पैर पटक कर हठयोग आदि का आश्रय लेकर भी अपने साधन-बल से साधक इस महायोगसागर में संतरण का उपाय नहीं पा सकता। महायोगी गोरखनाथ ने कहा है कि साधक को बड़ी शुद्धता से साधना के पथ में अग्रसर होकर शान्तिपूर्वक गुरू की सेवा में तल्लीन होना चाहिए। गुरू की कृपा से ही तत्वज्ञान प्रकाशित होता है।

शुद्वाभ्यासस्य शान्तस्य सदैव गुरूसेवया।
गुरूप्रसादात्तत्रेव तत्वज्ञानं प्रकाशते।।
(अमनस्कयोग २/११३)

यही कारण है कि बड़े-बड़े श्द्धि पुरूषों और योग के आचार्यों ने गुरू की करूणा के सुधारस-सागर में अपने चित्त को निमग्न कर देने को ही श्रेयस्कर और साधना में सिद्धि का उपाय बताया है। सिद्धसिद्धान्तसंग्रह के रचयिता की मार्मिक उक्ति है :-

यत्कारुण्यविलोकनादपिभवेच्चिद्विश्रमः पारदः।
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौचेतोऽस्तुमग्नं गुरौ।
(सि० सि० स० ५/३६)

गुरू की महिमा असंदिग्ध है। गुरू की चरणकृपागंगा में मनरूपी कमल का समर्पण निःसन्देह मोक्ष का विधायक है। चिन्तामणिस्वरूप गुरू के अनुग्रह के सिवा वेदान्त, तर्क, आगम तथा अन्यान्य शास्त्रों के अध्ययन और ध्यानादि उत्तम साधनों से लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। गोरखनाथ का कथन है कि गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विषणु और महेश्वर है, गुरु से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, इसलिए गुरु परमपूज्य है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुविष्णुर्गुरुर्देवोमहेश्वरः।
गुरुर्देवात्परं नास्ति तस्मात्तं पूजयेत्सदा।।
(अमनस्कयोग २/४४)

अच्युतस्वरूप ब्रह्मपद में दो सनातनी शक्तियाँ विद्या और अविद्या है। अविद्या का फल संसार है और विद्या का फल अमृततत्व है। विद्या और अविद्या दोनों के अद्वितीय अधीश्वर बन्धमोक्षातीत परमेश्वर हैं। कहा गया है कि अविधा तो परमात्मा की मायिक ऐश्वर्य-शक्ति है, पर विद्या गुरू की शक्ति की प्रतिष्ठा है। यह निर्विवाद है कि सद्गुरू पूर्ण साम्यावस्था में नित्य अधिष्ठित परम शिवस्वरूप है। उनका अनुग्रह साधक को क्षणमात्र में सामरस्यात्मक पूर्णत्व के परम पद पर अधिष्ठित कर देता है। वह गुरूपद स्वसंवेद्य है, परमाराध्य है। गुरू की कृपा से शिष्य गुरुरूप हो जाता है, गुरु-शिष्य, दोनों ही एक ह, काया हैं। परमगुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा है -

गुरु-सिख की एकै काया,
परचा होई तौ बिहड़िन जाया। (मछीन्द्रगोरषबोध ७४)

महायोगी गोरखनाथ ने गुरू के दृक्पात की महिमा प्रकट की है कि सिद्ध पुरूष अदैहिक (सहज) साधनों का आश्रय ग्रहण कर परमपद की प्राप्ति करते हैं और इन साधनों में स्थिति गुरु के दृक्पात से ही होती है। वह अपनी करूणा के दृक्पात से ही साधक के बन्धनों का नाश कर देता है और उसे परमपद में प्रतिष्ठित कर देता है। उसकी कृपा से परमपद प्राप्त होता है।

करूणाखण्डपातेनच्छित्वा पाशाष्टकं शिशोः।
सम्यगानन्दजनकः सद्गुरूः सोऽभिधोयते।
निमिषार्धार्धपाताद्वायद्वापादावलोकनात्।
स्वात्मानं स्थिरमाद्यन्तेतस्मै श्रीगुरुवे नमः।।
(सि० सि० प० ५/६८-६९)

बिना गुरू की कृपा के चित्तविश्रान्ति दुर्लभ है। गुरू के बिना अमनस्क-साधना में सिद्धि का मिलना उसी जरह कठिन है, जिस तरह किसी बावने के द्वारा गगन-स्पर्श असम्भव और कठिन है। उन्मनी समाधि में जीवात्मा की परमपद में प्रतिष्ठित उसकी पूर्ण चिन्मयता है और यह चिन्मयता गुरू के सानिन्नध्य का फल है। इसलिए हमारे सिद्धमतें में स्वानन्दविग्रह गुरूवंद्य है

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम्।

यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः।।
(गोरक्षशतक १)

मन के उन्मनीकरण के स्तर पर तन का (शरीर का) चिदानन्दायित होना, सम्पूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप होना ही परासिद्ध- सम्पूर्णउन्मीकरण, अलखनिरंजन परमपद में स्वसंवेद्यता है। सम्पूर्ण उन्मीकरण अथवा पूर्ण अमनस्कता के पथ में प्रगति के लिए अष्टांगयोग की साधना और युक्ताहारविहार के द्वारा मन और पवन के उन्मन होने पर ही परमपद, तत्व-प्राप्ति का दरवाजा खुल जाता है। गोरखनाथजी ने योगसाधक को सावधान किया है।

देवकाल ते संजम रहिबा।
भूत-कला अहारं
मन पवना लै उनमनी रहिबा
ते जोगी ततसारं।।
(गोरखबानी सबदी ३४)

योगसाधना-क्रम में योगसाधक आत्मसाक्षात्कार, परमेश्वर की ज्ञान-प्राप्ति में आत्मशक्ति, आन्तरिक दिव्य-ज्ञान और शरीर के आरोग्य तथा मन और पवन की शक्ति के सहारे सिद्धि प्राप्त करता है। देवकला, दिव्य अन्तरशक्ति अष्टांग योग के अभ्यास से सिद्ध होती है। भूतकला, भौतिक-शक्ति के लिए युक्त आहार आवश्यक है। आत्मबल और शरीर के आरोग्य से सम्पन्न योगसाधक अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध कर मूलाधार से उत्थित कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करते हुए प्राण (पवन) को सुषुम्नानाड़ी के पथ से प्रवाहित करते हुए मन को ब्रह्मरन्ध्र में शून्य-परमपद में समाहित कर देता है, यही मन का उन्मन होना है, उन्मनी अवस्था है, इससे तत्वज्ञान होता है। इसी उन्मनी की विवेचना में हठयोग प्रदीपिका का मत है कि जब मरुत का सुषुम्ना में प्रवेश होता है और मन की स्थिरता स्थापित होती है तो मन की यह सुस्थिर अवस्था ही उन्मनी है।

मारूते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।

यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी।।
(हठयोगप्रदीपिका २/४२)

जब तक प्राण स्थिर नहीं होता और विभिन्न संकल्पों में उसकी तल्लीनता नहीं होती तथा मन चंचल रहता है, तब तक तत्वज्ञान सम्भव ही नहीं है। मन और प्राण, दोनों के विलय का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन दोनों के विलय में तत्वज्ञान का उदय होता है और उस उदयाचल से निर्मल उन्मनी की पुण्यसलिला दिव्यता अथवा परमज्योति के अजस्र प्रवाह में योगसाधक निमग्न होकर आत्मस्वरूप अथवा आत्मपरिचय प्राप्त कर लेता है। उन्मनी स्थिति शून्य पद के विशिष्ट पंचगुणलीनता, लोलता, मूर्च्छता और पूर्णता के साथ परिगणित है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति (१/२१) में यह उन्मनी शून्य पद के गुण के रूप में सहजावस्था में निमग्न रहने की स्थिति का द्योतक है। समस्त चराचर में समदृष्टि ध्यान का लक्षण है और सबमें समान अवस्था में आत्मरूप दर्शन, जो सहज और स्वतः तथा अनायास है ही, समाधि है, क्रमभेद से समाधि अवस्था के ही एक अन्यतम क्रम के रूप में उन्मनी स्थिति की परिगणना है, पर यह नितान्त असंदिग्ध है कि यह विशिष्ट क्रम-ध्यान दोनों से अतीत स्थानीय है। इसी में परासिद्धिपर प्रकाश डालते हुए उन्मनी अथवा अमनस्कता की सिद्धि पर अपना मत निरूपण किया है। जो जोगी समस्त चिन्ताओं को विवर्जित कर देता है और मन से कुछ नहीं सोचता है, उसे तत्व का साक्षात्कार होता है। तत्व के सम्मुख होने पर अमनस्कता का उदय होता है, इससे चित्तादि का विलय हो जाता है। चित्त के विलय से पवन का लय स्थापित होता है, मन-पवन के लय से इन्द्रियार्थ का त्याग हो जाता है।..... सर्वसम की अवस्था आती है और सर्वसमत्व के उदय होने पर योग का कार्य-व्यापार समाप्त हो जाता है। इसके बाद परब्रह्म में स्वरूपभूत योगी लय को प्राप्त होता है, ऐसा होने पर सुख, दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। जिस तरह वायुशून्य में स्थापित दीप निश्चल हो जाता है, उसी प्रकार जगद्व्यापार से युक्त योगी लय को प्राप्त हो जाता है।

सुख दुःखे न जानाति शीतोष्णं न च विन्दति।
विचारं चेन्द्रियार्थाना न वेति विलयं गतः।।
न जीवन्न मृतो वापि न पश्यपि न मीलति।
निर्जीवः काष्ठवत्तिष्ठेत् लयस्थश्चाभिधीयते।।
निर्वातस्थापितो दीपो भासते निश्चलो यथा।।
जगद्व्यापारनिर्मुक्तस्तथा योगी लयं गतः।।
(अमनस्कयोग १/३८-४०)

इस लयावस्था में मन ब्रह्म के स्पर्श से ब्रह्ममय हो जाता है, योगी मन से अतीत हो जाता है। ब्रह्म-प्रतिष्ठा ही परासिद्धि है, ब्रह्म-प्रतिष्ठा का है अलख-निरंजन परमपद परमशिवस्वरूप स्थिति। यह भावाभावनिर्मुक्त विनाशोत्पत्तिवर्जित, सर्वसंकल्पनातीत परतत्व है।

भावाभावविनिर्मुक्तं विनाशोत्पत्त्विर्जितम्।
सर्वकंल्पनातीतं परतत्वं तदुच्यते।।
(अमनस्कयोग १/२५)

इस परम तत्व-शाम्भव तत्व के उदय में शाम्भवी-मुद्रा की सिद्धि लक्षित की है हठयोग-प्रदीपिका के रचयिता ने, जो स्वरूपतः उन्मनी समाधि ही है।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदी वर्तते।
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरध पश्यन्नपश्यन्नपि।।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सालब्धा प्रसादाद् गुरोः।
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत् तत्वं पर शाम्भवम्।।
(हठयोगप्रदीपिका ४/३७)

हठयोग-प्रदीपिका में इस शाम्भव परमतत्व की विवेचना के परिलक्षण में यह निरूपण उपलब्ध होता है। जो कुछ भी जाना जाता है, वह ज्ञान कहलाता है और यह ज्ञान ही मन कहा गया है। शान्ति-प्राप्ति का परमोत्तम मार्ग यही दृश्य और अदृश्य का परिज्ञान मन का धर्म है, यह द्वन्द्व है, जब मन उन्मन

होता है, तब यह द्वन्द्व स्वतः समाप्त हो जाता है। ज्ञेय वस्तु के परित्याग से मनविलय के उपरान्त एक मात्र कैवल्य ही अवशेष रहता है।

ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च ज्ञानं च मनउच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः।
मनोदृश्यमिदं सर्वं यद् किन्चित् सचराचरम्।
ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद् विलयं याति मानसम्।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते।।
(हठयोगप्रदीपिका ४/६०-६२)

इस कैवल्य में परमशिव की विद्यमानता ही शक्ति की सनातन विद्यमान शक्ति के रूप में शाश्वत शिवमयता है। इस शिवमयता-परम शिवतत्व की परिव्याप्ति के परिलक्षण में गुरू गोरखनाथजी ने कहा है-

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेराभ्यन्तरः शिवः।
अन्तरं नैव जानोयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४/२६)

यह परम शून्यावस्था है, इसमें किसी भी विषय-वस्तु का चिन्तन नहीं होता है और तत्व स्वतः प्रकाशित हो जाता है।

न किन्चिच्चिन्तयेद योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किञ्चिचिन्तनादेव स्वं तत्वं प्रकाशते।।
(अमनस्कयोग २/५५)

स्व तत्व का सहज-स्वरूप में अभिव्यक्त अथवा प्रकाशित हो उठना अमनस्कयोग की साधना की सिद्धि है। इसी सिद्धि में मोक्ष-पद का निरूपण करते हुए गोरखनाथजी ने उसे मन से मन को देखना कहा है।

अथ मोक्षपदं कथ्यते-यत्र सहजसमाधिक्रमण मनसा मनः सभालोक्यते स एव मोक्षः। (अमरौधशासनम्)

यही द्वैताद्वैतविलक्षण समतत्व का महाज्ञान है। मुक्त तो वास्तव में वही है, जिसका चित्त न सुप्त है, न जाग्रत् है। जिसे न स्मृति है, न विस्मृति है, जो न अचेत है न सचेत है। ऐसा प्राणी ही मुक्ति में स्वस्थ होता हैं

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत् स्मृतिविस्मृतिवर्जितम्।
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः।।
(हठयोगप्रदीपिका ४/११०)

नाथयोग में द्वैताद्वैत भाव से अतीतता की अवस्था ही मुक्ति की परमावस्था है। अमनस्कयोग की साधना में गुरू गोरखनाथजी ने एक गुप्त प्रयोग के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट किया है। यह प्रयोग अत्यन्त गूढ़ है।

उर्ध्वमुष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्वभेदस्त्वधः शिरा।
धरायन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भविष्यति।।
(अमनस्कयोग २/१५)

इसका शाब्दिक आशय यह है कि ऊपर की ओर मुष्टि, नीचे की ओर दृष्टि, ऊपर को भेद और नीचे की ओर सिर का धरायंत्र की विधि से साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। धरायंत्र का तात्पर्य है शाम्भवी मुद्रा की विधि और इस मुद्रा के अभ्यास से साधक जीवन्मुक्त होता है। जिस तरह अर्जुन ने मत्स्वेध कर द्रोपदी स्वयंवर में विजय पायी थी, उसी तरह साधक शाम्भवी मुद्रा में बहिर्दृष्टि स्थिर कर लक्ष्य का भेदन करता है, परमपद में स्थित होता है। योगी योग के विधान से अभ्यास में सिद्धि होने पर उन्मनीकरण की अवस्था में स्थित होने पर निर्भय निरालम्ब निराधार और निर्मल ब्रह्मपद में लीन हो जाता है।

निरातंके निरालम्बे निराधारे निरामये।
योगी योगविधानेन परे ब्रह्मणि लीयते।।
(गोरक्षसंहिता २/६५)

यही महाशून्य समाधि में तन्मयता अथवा तत्वाकारिता अथवा परब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति है। यह अवस्था अनिर्वचनीय और शब्दब्रह्म से अतीत है, यही नाथस्वरूप अथवा निरंजनपद है। शिवसंहिता में इस महाशून्य समाधि के निरूपण में कहा गया है कि जब आत्मा-जीवात्मा समस्त उपाधियों से परे हो जाता है, तब अखण्ड ज्ञानरूप निरंजन ब्रह्म की प्रतीति होती है।

निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरूषः।
तदा विजयतेऽखण्डज्ञानरूपी निरंजनः।।
(शिवसंहिता १/७३)

यह चराचर जगत् मन का दृश्य है, मन का उन्मनी भाव होने पर अद्वैत भाव अभिव्यक्त हो जाता है। अमनस्क की साधना को परिलक्षित कर गोरखनाथ जी ने कहा है कि चित्त के अचल होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है।

चित्ते चलति संसारोऽचले मोक्षः प्रजायते।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यादौदासीन्यपरायणः।।
(अमनस्कयोग २/६३)

अमनस्कयोग की साधना के लिए योगी को मन पर स्वामित्व स्थापित करना बड़ा ही आवश्यक है, जिसका अभाव होने पर मन बहुत विघ्नकारी सिद्ध हो सकता है। प्रत्येक योगसाधना-क्षेत्र में इसलिए मन के नियंत्रण पर बल दिया गया है। योगीराज चौरंगीनाथ ने अपनी एक सबदी में कहा है कि मन को ही मारना चाहिए। मारने का तात्पर्य है उन्मन करना चाहिए और पवन के भण्डार पर ही अधिकार करना चाहिए, प्राणायाम के द्वारा चित्त की निरोधावस्था सम्भव होती है, इसलिए प्राण को भी ऊर्ध्वस्थानीय-ब्रह्मरन्ध्र में संयमित करना परमआवश्यक है। ऐसा होने पर स्थिर तत्व की साधना सिद्ध होती है और योग-साधक के लिए निरंजन के साक्षात्कार का मार्ग स्पष्ट हो जाता है। चौरंगीनाथ का कथन है-

महन्त अवेद्यनाथ

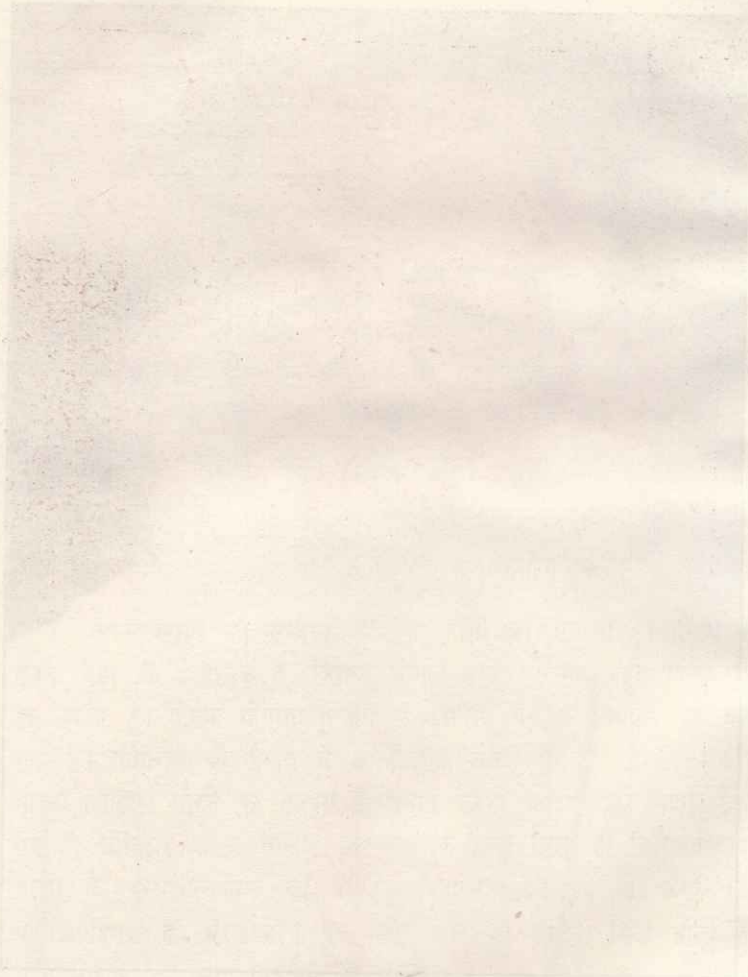

मारिबा तौ मन मस्त मारिबा।
लूटिबा तौ पवन भण्डारं।।
साधिबा तौ थिरतत्त साधिबा।
सेइबा निरंजन निराकारं।।
(नाथसिद्धों की बानियाँ ३४४)

इस तथ्य पर योगसिद्ध भर्तृहरि ने भी बल दिया है। उन्होंने शून्य निःशब्द पद में प्रतिष्ठित होने की सीख देते हुए समस्त विकारों के परित्याग को श्रेयस्कर कहा है। योगिराज भर्तृहरि का वचन है :-

साधिबा एक पवन आरंभ साधिबा।
छाड़िबा तौ सकल विकारं।
रहिबा तो निहिसबद की छाया।
सेईबा तौ निरंजन निराकारं।। (नाथसिद्धों की बानियाँ ६१८)

योगसंहिताओं में भी इसी तरह के स्पष्ट निर्देश उपलब्ध होते है। ज्ञान के द्वारा जहाँ आरोप-अपवाद में सभी उत्पन्न कार्यों का लीन हो जाना निश्चित है, वहाँ शाश्वत विद्यमान नित्य निरंजन आत्मा में मन को लीन कर लेना चाहिए। आत्मा में सभी उत्पन्न पदार्थों का लय हो जाता है, इसलिए मन का भी आत्मलय अथवा उन्मनीकरण निरंजन के साक्षात्कार की दिशा में आवश्यक है।

अमनस्कयोग के रचयिता महायोगी गोरखनाथ ने एक बड़े महत्त्व की बात कही है कि जिस तरह फूल से फल होने पर फूल का स्वतः लोप हो जाता है, उसी तरह देह में जब तत्त्व प्रकाशित होता है, ब्रह्मस्वरूप की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा हो उठती है, तब देहातीतता की स्थिति प्रकट होती है।

पुष्पात् प्रकाशते यद्वत् फलं पुष्पविधातकम्।
देहात्प्रकाशते तत्त्वं तत्त्वं देहविनाशकम्।।
फलं प्रकाशकं पुष्पं फलं पुष्पविधातकम्।
देहात्प्रकाशते तत्त्वं तत्त्वं देहविनाशकम्।।
(अमनस्कयोग २/१७-१८)

उन्मनीकरण का राजपथ यह है कि योगसाधक मन को वारित न करे, यदि मन को वारित करने का प्रयत्न किया जाता है तो क्षय अथवा लय को नहीं प्राप्त होता है। यदि मन अवारित रहता है, तो स्वतः मर जाता है, अचंचल हो जाता है और वह क्षय अथवा लय को सहज अनायास प्राप्त हो जाता है। उन्मनी करण की साधना में यह महान् रहस्य है और अमनस्कयोग की सिद्धि का परम उपाय है। जिस तरह अग्नि में गला सोना कालिमा का त्याग कर निर्मल होता है, निर्वात जल स्वच्छ और स्थिर रहता है, उसी तरह अमनस्क सिद्ध होने पर तत्त्व प्रपंचत्यागपूर्वक निष्कल-निर्मल हो जाता है। अमनस्क-साधना की यही सिद्धि है कि एकमात्र तत्त्व-परमतत्त्व ही अवशेष रह जाय। यह अमनस्कयोग-सद्यः प्रत्ययकारकः (अमनस्कयोग २/२६) तत्काल तत्त्वज्ञान प्रदान करनेवाला है।

श्रीगोरखनाथ-मन्दिर,
गोरखपुर
रामनवमी २०३६ वि०

महन्त अवेद्यनाथ
गोरक्षपीठाधीश्वर

श्रीगोरक्षनाथो विजयतेतराम्

स्वसंवेद्य

सबद हमारा षरतर षांडा
रहणि हमारी साँची।
लैषै लिषी न कागद माडी
सो पत्री हम बाँची।।

{गोरखबानी सबदी २६४}

स्वयंबोध अमनस्कयोग[1]

अमनस्कखण्ड[2]

प्रथमाध्याय[3]

कैलासशिखरासीनं सर्वज्ञं (श्री सदा) शिवम्[4]।
वामदेवो मुनिश्रेष्ठः प्रणम्य परिपृच्छति।।१।।

मुनिश्रेष्ठ वामदेवजी ने कैलास पर्वत के शिखर पर बैठे हुए सर्वज्ञ (श्री सदा) शिवजी को प्रणाम कर पूछा।।१।।

वामदेव उवाच

{६४} देवदेव महादेव सर्वानुग्रहकारक[5]।
जीवन्मुक्तिप्रदोपायं कथयस्व मम प्रभो।।२।।

वामदेवजी ने कहा - सब पर अनुग्रह करनेवाले देवाधिदेव हे महादेव जी! हे प्रभो! जीवनमुक्ति प्रदान करनेवाला उपाय मुझसे कहने की कृपा कीजिये।।२।।

---

१. (ख) अमनस्क योगशास्त्र। २. (ख) नहीं है। ३. (ख) नहीं है। ४. (ख) नहीं है। ५. (ख) प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलि-रूमापतिम्। जीवन्मुक्तिदोपायं कथयस्वेति पृच्छति। ६. पाद पूरणार्थ कल्पित।

श्रीमहादेव उवाच[1]

श्रृणु वत्स महाप्राज्ञ संसारार्णवताररकम्।
अगम्यं सर्ववेदानां गोपितं सकलागमे।।३।।
तदहं संप्रवक्ष्यामि तव संवीक्ष्य वासनाम्।
अद्वैतं परमं चापि तव भक्तिरहैतुकी।।४।।

श्रीमहादेवजी ने कहा है - हे वत्स, महामते, संसार-सागर से पार करनेवाला जीवन्मुक्ति उपाय तुम सुन लो, यह उपाय सब वेदों का अगम्यं है, सब आगमों में छिपाकर रख हुआ है। तुम्हारी उत्कट अभिलाषा एवं परमाद्वैत (-निष्ठा) देखकर मैं तुमसे कहूँगा, क्योंकि तुम्हारी भक्ति अहैतुकी है।।३-४।।

अस्त्येकस्तारको योगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः।
स एव द्विविधः प्रोक्तः पूर्वापरविभागतः।।५।।

सब योगों में परमोत्तम एक "तारक योग" है। वही "पूर्व" और "अपर" विभाग से दो प्रकार का कहा गया है।।५।।

पूर्वोक्तस्तारकस्तत्र अमनस्कस्तथापरः।
प्रथमं तु प्रवक्ष्यामि पूर्वमङ्गल समासतः।।६।।

उन योगो में 'पूर्व' जो कहा गया है, उसका नाम "तारकयोग" है और 'अपर' जो कहा गया है, वह "अमनस्कयोग" है। पहले मैं अंगभूत 'पूर्व' योग अर्थात् "तारकयोग" को संक्षेप में कहूँगा।।६।।

सर्वमूतिमयं रूपं गुणैरिन्द्रियमानदम्।
द्विधा कृतं मनोयुक्तं तारकं सर्वसारकम्।।७।।

सर्वमूर्तिमय, गुणों से इन्द्रियों को रूचिकर योग-स्वरूप दो प्रकार का किया गया है। उनमें मन से युक्त जो योगस्वरूप है, वह 'तारक' कहलाता है और मन से अतीत जो योगस्वरूप है, वह सर्वसार 'अमनस्क' कहा जाता है।।७।।

---

१. (ख) ईश्वर उवाच। परं ज्ञानमहं येन तत्त्वं प्रकाशते। येन विच्छिद्यते सर्वमाशापादिबन्धनम्।।२२।।

तारे ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयन् भ्रुवौ।
पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।।८।।[1]

तारों (आँख की पुतलियों) को ज्योति में लगा कर भौहों को कुछ ऊँची करें (चढ़ा ले)। यह पूर्वयोग (तारकयोग) का मार्ग क्षणभर में उन्मनीभाव उत्पन्न करता है।।८।।

एष योगो मया प्रोक्तः पूर्वापरविभागतः।
सर्वमंगलसिद्धार्थं न देयो यस्य कस्यचित्।।९।।[2]

इस योग का पूर्वयोग और अपरयोग के विभाग से सब कल्याणों की सिद्धि के लिए मैनें प्रतिपादन किया है। इसे जिस किसीको योग्यता का विचार किये बिना नहीं प्रदान करना चाहिये।।९।।

मन्त्रयोगरताः[3] केचिद् केचिद् ध्यानविमोहिताः।
जपेन केचिद् क्लिश्यन्ति नैव जानन्ति तारकम्।।१०।।

कई मन्त्रयोग की साधना में लगे हुए हैं, कई लोग ध्यान के मोह में पड़े हुए हैं, कई जप से क्लेश पा रहे हैं, ये सब तारकयोग को जानते ही नहीं हैं।।१०।।

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम्।।११।।

कई आगमों से, कई निगमों से और कई तर्कों से मोहित (उलझे) है। ये सब तारक को जानते ही नहीं है।।११।।

---

१. गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्।। हठयोगप्रदीपिका ३ १०६ के इस श्लोक में उपर्युक्त श्लोक के भावानुसार ही उन्मनी भाव अथवा विष्णु पद का व्याख्यान है।

२. (ख) श्लोक संख्या ५ से ६ तक नहीं है।

३. (ख) 'तत्र योगरजाः' पाठ है। इसके पूर्व (ख) में-
आधारादिषु चक्रेषु सुषुम्णादिषु नाडिषु।
प्राणादिषु शरीरेषु परं तत्वं न तिष्ठति।। - यह श्लोक है,

तारकोऽयं भवाम्भोधौ तारणो गुरूशिष्ययोः[1]।
तारकोन्मेषयुक्तत्वादपि तारक उच्यते।।१२।।

यह तारकयोग भवसागर में गुरू और शिष्य दानों को ही पार उतारता है। तारिका के उन्मेष[2] से युक्त होने के कारण यह "तारक" कहा जाता है।।१२।।

न मीमांसातर्कग्रह[3]गणितसिद्धान्तपठनै-
र्न वेदैर्वेदान्तैः स्मृतिभिरभिधानैरपि न च।
न चापिच्छन्दोव्याकरणकवितालंकृतिगणै[4]-
र्मुनेस्तद्व्याप्ति[5]र्निजगुरूमुखादेव विहिता।।१३।।

मुनि को तारक योग की विशिष्टरूप से प्राप्ति न तो मीमांसा, तर्क (न्याय) तथा फलित, गणित और सिद्धान्तरूप त्रिस्कन्ध ज्योतिष पढ़ने से होती है, न वेद, वेदान्त, स्मृति और कोषों के अनुशीलन से होती है, न छन्दःशास्त्र, व्याकरण, काव्य और अलंकारों के अध्ययन से होती है। एकमात्र अपने गुरू के मुखारबिन्द से उसकी विशिष्ट प्राप्ति शास्त्रों में कही गयी है।।१३।।

दृष्टि स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं,
वायुः स्थिरो यस्य बिना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं,
स एव योगी स गुरूः स सेव्यः।।१४।।

दृष्य के बिना ही जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाय, बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के जिसकी वायु स्थिर हो जाय एवं बिना किसी अवलम्बन के जिसका चित्त स्थिर हो जाय, वही योगी है, वह गुरू होने योग्य है, उसी की सेवा (शरणप्राप्ति) करनी चाहिए।।१४।।

---

१. (ख) ११ और १२ श्लोक नहीं है।
२. संसार-सागर से उत्तीर्ण करनेवाली शक्ति का जागरण। इस शक्ति को चित्-शक्ति, बोध-शक्ति या कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं।
३. (ख) तर्कसंग्रह। ४. (ख) लंकृतिमयै -
५. (ख) तत्वं प्राप्ति।

एवंविधगुरोः[1] शब्दात् सर्वचिन्ताविवर्जितः।
स्थित्वा मनोहरे देशे योगमेव समभ्यसेत्।।१५।।

इस प्रकार गुरू के उपदेशानुसार सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित होकर रमणीय प्रदेश में बैठकर योग का ही अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए।।१५।।

विविक्तदेशे सुखसंनिविष्टः
समासने किञ्चिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिराङ्ग-
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरूष्व।।१६।।

सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित हो एकान्त स्थान में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर झुक कर (तन कर) स्थिरअंग हो, सुखपूर्वक बैठ कर एक हाथ तक स्थिर दृष्टिकर निश्चिन्तता से योग का अभ्यास करो।।१६।।

एवमभ्यसतो योगं मनो भवति सुस्थिरम्।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ।।१७।।

इस प्रकार योग का अभ्यास करते-करते मन सुस्थिर हो जाता है, वायु, वाणी, देह और दृष्टि में भी स्थिरता आ जाती है ।।१७।।

जायमानामनस्कस्य उदासीनस्य सवर्तः।
मृदुत्वं च लघुत्वं च शरीरस्योपजायते ।।१८।।

जिसको अमनस्क योग की प्राप्ति हो रही हो और जो सब ओर से उदासीन हो, ऐसे योगी के शरीर में मृदुता (कोमलता) लघुत्व (हल्कापन) हो जाता है।।१८।।

---

१. ऐसे सद्गुरू के विषय में हठयोग-प्रदीपिका में लिखा है कि-
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करूणां बिना।।

काषायग्रहणं कपालधरणं केशावलीलुंचनं[1]।
पाखण्डव्रतभस्मचीवरजटाधारित्वमुन्मत्तता।।
नग्नत्वं निगमागमादिकवितागोष्ठीसभाभ्यन्तरे,
सर्वं चोदरपूरणाय[2] पठनं न श्रेयसः कारणम्।।१६।।

काषाय (गेरूवे) वस्त्र धारण करना, खप्पर धारण करना, केशों को नोचना, पाखण्ड व्रत लेना, भस्म, कन्था और जटा धारण करना, उन्मत्तवत् रहना, नग्न रहना, सभाओं में निगम और आगमों पर व्याख्यान देना, काव्य-गोष्ठी में भाग लेना- यह उदरपूर्ति के लिए है। पढ़ना निःश्रेय का साधन नहीं है ।।१६।।

[3]द्वेषोच्चाटनमारणादिकुहकैर्मन्त्रैः प्रपंचोद्गमः[4]
सर्वाभ्यास[5] विचित्रबन्धकरणाद्यज्ञानयोगः परः[6]।
ध्यानं देहपदेषु नाडिषु षडाधारे च चेतोभ्रम-
स्तस्मात् तत्सकलं मनोविरचितं त्यक्त्वाऽमनस्कं भज।।२०।।

द्वेष (विद्वेषण), उच्चाटन, मारण आदि प्रवचंनाओं से युक्त मन्त्रों से प्रपंच की उत्पत्ति होती है, पूर्ण अभ्यास, भाँति-भाँति के आसन बन्धों का बिना अन्तरंग साधन-विवेक के करना केवल अज्ञान ही है, देहस्थित नाड़ियों में तथा छः आधार वाले चक्रों में ध्यान केवल चित्त का विभ्रम है, इसलिए मन से कल्पित इन सब का त्याग कर अमनस्क योग का सेवन करो ।।२०।।

---

१. (ख) मुंचन। यही पाठ अच्छा प्रतीत होता है। इसका अर्थ होगा केशों का त्याग अर्थात मुण्डित होना।
२. (ख) पूरणार्थपठनम्
३. (ख) रक्षोच्चाटन।
४. (ख) मन्त्रप्रपंचोद्गमैः।
५. (क) पूर्णाभ्यास
६. (क) अज्ञानबोधिः परम् (ख) अज्ञानभोगः परः।

अन्ये च जगतो भावा ये च तिष्ठन्त्यनेकधा।
तेषां तु लक्षकेणापि परतत्वं न मीयते[1] ।।२१।।

और भी जगत् के जो विविध प्रकार के पदार्थ हैं, उनके लक्ष से भी परम तत्त्व की बराबरी नहीं की जा सकती। वे लाखों हैं परन्तु परमत्तत्व से अत्यन्त विलक्षण हैं ।।२१।।

अथाहं वच्मि मोक्षाय ज्ञानरागजितां[2] नृणाम्।
निष्कलं निष्प्रपंच[3] परतत्त्वं तदुच्यते।।२२।।

अब मै ज्ञान से राग पर विजय प्राप्त करने वाले लोगों की मुत्ति के लिए परतत्व का निरूपण करता हूँ, जो निष्कल, (निरंजन) और निष्प्रपंच कहा जाता है।।२२।।

यस्मादुत्पद्यते सर्वं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठिम्।
यस्मिन् विलीयते सर्व परतत्त्वं[4] तदुच्यते।।२३।।

जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसमें सब स्थित है और जिसमें सब लीन होते हैं, वह "पर तत्त्व"-परमतत्व-कहा जाता है।।२३।।

भावाभावविनिर्मुक्तं विनाशोत्पत्तिवर्जितम।
सर्वसंकल्पनातीतं परतत्तं[5] तदुच्यते।।२४।।

सत् (अस्ति), असत् (नास्ति), सदसत् (अस्तिनास्ति) और असत्-असत् (नास्तिनास्ति) इस चतुष्कोटि से विनिर्मुक्त, विनाश और उत्पक्ति से रहित एवं सर्व कल्पनाओं से अतित जो तत्त्व है, वह "परतत्त्व" कहा जाता है।।२४।।

---

१. (ख) तेषां तु लक्षणोनापि पर तत्त्वं न गीयते। (क) परतत्त्वं न गीयते।
२. (ख) ज्ञानं रागजिताम्। ३. (ख) निष्प्रपंचं यत् परं तत्वं।
४. (ख) परं तत्त्वं तदुच्यते।
५. (ख) परं तत्त्वं तदुच्यते।

अनाकारमविच्छन्नमग्राह्यमचलं ध्रुवम्।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सर्वकामविवर्जितम्।।२५।।

परम तत्त्व निराकार, अविच्छिन्न अर्थात् जन्म, मरण आदि से रहित अर्थात् शाश्वत, मन और वाणी का आगम्य, निश्चल, अविनश्वर, सब उपाधियों से रहित एवं सब कामनाओं से शून्य है।।२५।।

प्रथमं पृथिवीतत्त्वं जलतत्वं द्वितीयकम्।
तेजस्तत्त्वं तृतीयं च[1] वायुतत्त्वं चतुर्थकम्।।२६।।
आकाशं पञ्चमं तत्त्वं मनः षष्ठमुदीरितम्।
सप्तमं परमं तत्त्वं यो जानाति स मोक्षभाक्।।२७।।

पहला पृथ्वी तत्त्व, दूसरा जल तत्त्व, तीसरा तेजस्तत्त्व, चौथा वायुतत्त्व, पाँचवा आकाश तत्त्व, और छठा मनतत्त्व कहा गया है। सातवाँ परम तत्त्व है, उसे जो जानता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।।२६-२७।।

परं तत्त्वं समाख्यातं जन्मबन्धविनाशनम्।
तस्याभ्यासं प्रवक्ष्यामि येन संजायते लयः।।२८।।

"परमतत्त्व" जन्मरूप बन्धन का विनाशक कहा गया है। मैं उसके अभ्यास की विधि बताऊँगा, जिससे लय होता है।।२८।।

विविक्तदेशे सुखसंनिविटः
समासने किञ्चिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिराङ्ग-
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं[2] कुरूष्व।।२९।।[3]

निर्जन और पवित्र स्थान में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर झुककर (तनकर) सुख से बैठे हुए तुम एक हाथ दूर तक दृष्टि को स्थिर कर निश्चल शरीर और चिन्ताविहीन होकर उस परम तत्त्व का अभ्यास करो।।२९।।

---

१. (ख) स्यात्।

२. (ख) स्थिरांगं। ३. श्लोक १६ की यहाँ पर पुनरावृत्ति हुई है, इसका कारण आसन के पश्चात् ही ध्यान की प्रक्रिया द्वारा अमनस्कयोग का निरूपण करना है।

सुखासने समासीनस्तत्त्वाभ्यासं समाचरेत्।
सदाभ्यासेन तत्कुर्यात् परतत्त्वप्रकाशनम्[1]।।३०।।

सुखासन पर बैठकर परतत्व का अभ्यास करना चाहिए। साधक को चाहिए कि सदा के अभ्यास द्वारा उस परतत्व को प्रकाश में लाये, परम तत्व का साक्षात्कार करे।।३०।।

ब्रह्माण्डं पञ्चभूतस्थं पञ्चभूतमयी तनुः।
सर्वं भूतमयं चेति[2] त्यक्त्वा नास्तीति चिन्तय[3]।।३१।।

सारा ब्रह्माण्ड पञ्चभूतों पर आधारित है, शरीर भी पञ्चभूतमय है, यही क्यों, सब कुछ भूतमय है, इसलिए उन सबका परित्याग कर "ये है ही नहीं"- ऐसी भावना करो।।३१।।

न किञ्चन्मनसा ध्यायेत्सर्वचिन्ताविवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसम्मुखः।।३२।।[4]

सब तरह की चिन्ताओं से मुक्त होकर होकर मन से किसी का भी चिन्तन न करें, ऐसे योगी के बाहर और भीतर तत्त्व सम्मुख (प्रकाशित) हो जाता है अर्थात् उसे बाहर और भीतर तत्त्व का स्फुरण हो जाता है।।३२।।

तत्त्वस्य सम्मुखे जाते अमनस्कं[5] प्रजायते।
अमनस्केऽपि संजाते चित्तादि[6]विलयो भवेत्।।३३।।

तत्त्व के सम्मुख होने पर[7] अमनस्क योग सिद्ध हो जाता है। अमनस्क योग की प्राप्ति होने पर चित्त आदि का भली भाँति (परम तत्त्व में) लय हो जाता है।।३३।।

---

१. (ख) परं तत्त्वं प्रकाशते।
२. (ख) वेति।
३. (ख) भावयेत्।
४. हठयोगप्रदीपिका में भी लिखा है कि :-
बाह्यचिन्ता न कर्तवया तथैवान्तरचिन्तन।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।
५. (ख) त्वमनस्कं
६. (ख) चिन्तादिविलयो।
७. आत्मा के सम्मुख होने पर।

चित्तादिविलये जाते पवनस्य लयो भवेत्[1]।
मनःपवनयोर्नाशादिन्द्रियार्थं विमुञ्चति।।३४।।

चित्त आदि का विलय हो जाने पर (वायु) का लय हो जाता है। मन और पवन दोनों का विनाश (विलय) होने पर साधक इन्द्रियार्थों विषयों (रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श) का त्याग कर देता है।।३४।।

इन्द्रियार्थैर्यदा मुक्तो[2] बाह्यज्ञानं न जायते।
बाह्यज्ञाने विनष्टे च ततः सर्वसमो भवेत्।।३५।।

जब साधक इन्द्रियार्थों का त्याग कर देता है अथवा उनसे मुक्त हो जाता है, तब उसे बाहरी ज्ञान नहीं होता है। बाहरी ज्ञान के विनष्ट होने पर वह सर्वसम-विषमतारहित हो जाता है।।३५।।

यदा सर्वसमे जाते[3] भवेद् व्यापारवर्जितः।
परब्रह्मणि[4] सम्पन्नो[5] योगी प्राप्तलयस्तदा।।३६।।

जब साधक सर्वसम होने पर व्यापाररहित होता है, तब परब्रह्म मे, सम्पन्न योगी लय को प्राप्त कहा जाता है- ब्रह्ममय हो जाता है।।३६।।

सदाभ्यासरतानां च यः परो जायते लयः।
तस्याहं संप्रवक्ष्यामि लक्षणं मुक्तचेतसः।।३७।।

सदा परम तत्त्व-परतत्त्व के अभ्यास में निरत योगियों का जो उत्कृष्ट लय होता है, उसका, जिसमें चित्त मुक्त हो जाता है, लक्षण मैं आगे कहूँगा।।३७।।

---

१. (ख) यह पूरी पंक्ति नहीं है।
२. (ख) इन्द्रियार्थे विनिर्मुक्ते।
३. (ख) यदासर्वसमो जातो।
४. (ख) परे ब्रह्मणि।
५. (ख) संबुद्धः।

सुख-दुःखे न जानाति शीतोष्णं न च विन्दति।
विचारं चेन्द्रयार्थानां न वेत्ति[1] विलयं गतः।।३८।।

लय को प्राप्त हुए योगी सुख और दुःख नहीं जानता है, शीत और उष्ण की प्रतीति भी उसे नहीं होती है एवं इन्द्रियार्थों- रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का विचार तक उसके कान में नहीं आता।।३८।।

न जीवन्न मृतो[2] वापि न पश्यति न मीलति।
निर्जीवः काष्ठववित्तष्ठेत्तूलयस्थश्चाभिधीयते।।३९।।

जो पुरूष न जीवित है न मृत है, न पलक खोलता है, और न पलक गिराता है, निर्जीव काष्ठ के तुल्य रहता है, वह लयस्थ कहा जाता है।।३९।।

निर्वातस्थापितो दीपो भासते निश्चलो यथा
जगद्व्यापारनिर्मुक्तस्तथा योगी लयं गतः।।४०।।

वायुरहित स्थान पर रखा हुआ दीपक जैसा निश्चल दिखायी देता है, वैसा ही लय को प्राप्त हुआ योगी जगत् के सब व्यापारों से निर्मुक्त (निश्चेष्ट) हो जाता है।।४०।।

यथा वातैर्विनिर्मुक्तो निश्चलो निर्मलोऽर्णवः।
शब्दादिविषियैस्त्यक्तो लयस्थो दृश्यते तथा[4]।।४१।।

जैसे वायु से रहित (बिना ज्वारभाटे का) सागर निर्मल और निश्चल दिखायी देता है, वैसे ही शब्दादी विषयों से परित्यक्त लयस्थित योगी भी निश्चल दिखायी देता है।।४१।।

प्रक्षिप्तं लवणं तोये क्रमाद् यद्वद्विलीयते।
मनोऽप्यभ्यासयोगेन तद्वद् ब्रह्मणि लीयते[5]।।४२।।

जैसे जल में छोड़ा हुआ नमक का ढेला धीरे-धीरे लीन हो (मिल) जाता है, वैसे ही अभ्यासयोग से मन भी परब्रह्म में लीन (तद्रूप) होता है।।४२।।

---

१. (ख) चेष्टा विलयं गतः।
२. (ख) न च जीवन्मृतो।
३. (ख) तदा । ४. (ख) इस श्लोक के आदि के दो पदों के बाद श्लोक सं ३४ का पूर्वार्द्ध और जोड़ दिया गया है- 'चित्तादिविलये जाते पवनस्य लयो भवेत्'।

लवणं तोयसंस्पर्शाद् यथा[1] तोयमयं भवेत्।
मनोऽपि ब्रह्मसंस्पर्शात्तथा ब्रह्ममयं भवेत्।।४३।।

जैसे नमक जल के सम्पर्क से जलमय हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म के संस्पर्श से मन भी ब्रह्ममय हो जाता है।।४३।।

यथाक्षारमयत्वेन प्राप्नोति[2] लवणं स्वकम्।
ब्रह्मज्ञानमयत्वेन निर्वाणं मनसस्तथा।।४४।।

जैसे जल में लवण की सत्ता जल के क्षारमय होने से प्राप्त होती है, वैसे ही मन का ब्रह्म में निर्वाण मन के ब्रह्मज्ञानमय होने से प्रतीत होता है।।४४।।

घृतात् पृथक्कारहितं घृते लीनं घृतं यथा।
तत्त्वे लीनस्तथा योगी पृथग्भावं न विन्दति।।४५।।

जैसे घृत में डूबा हुआ घृत घृत से पृथकता (भेद) रहित अर्थात भिन्न नहीं है, वैसे ही तत्त्व (सत्ता) में लीन हुआ योगी पृथग्भाव अर्थात् तत्त्व से अपना भेद नहीं जानता है।।४५।।

निमेषेण श्वासपलै[3] र्नाडीभि प्रहरैर्दिनैः।
मासैः संवत्सरैः कालैर्लयस्थस्तत्परं[4] व्रजेत्।।४६।।

एक निमेष (पलक गिरने के समय तक), श्वास, पल, घड़ी, पहर, दिन, मास और वर्ष तक लयस्थित हुआ होगी उस परतत्त्व को प्राप्त होता है।।४६।।

शासोच्छ्वासात्मकः प्राणः षड्भिः प्राणैः पलं स्मृतम्।
पलैः षष्टिभिरेव स्यात् घटिका कालसम्मिता[5]।।४७।।

श्वास और उच्छ्वासरूप काल 'प्राण' कहलाता है, छः प्राणों से एक पल कहा गया है और साठ पलों से एक घड़ी समय कहा गया है।।४७।।

---

१. (ल) संस्पर्शात्
२. (क) प्राप्यते
३. (ख) निमेषश्वासपलकैः
४. (ख) लयस्थोऽत्थपरं
५. (क) कालसम्मता

योगी निमेषमात्रेण लयेन लभते ध्रुवम्।
स्पर्शनं परतत्त्वस्याप्युत्थानं च पुनः पुनः।।४८।।

योगी एक निमेषमात्र के लय से निश्चय ही परतत्व के स्पर्श को प्राप्त होता है और उससे पुनः पुनः व्युत्थान को प्राप्त होता है।।४८।।

धर्मशान्तिः प्रजायेत मुहुर्निद्रा च मूर्च्छना।
निमेषषट्कमात्रेण लयेनान्तःस्थ योगिनः[1]।।४९।।

छः निमेषों तक के लय से अन्तवृत्तिवाले योगी की तापशान्ति होती है, बार-बार निद्रा और मूर्च्छा आती है।।४९।।

श्वासमात्रलयेनापि तेन प्राणादिवायवः।
श्वासप्रवाहसम्बन्धात् स्वे स्वे स्थाने बहन्ति ते।।५०।।

एक श्वास तक रहने वाले लय से भी प्राण आदि वायु स्वास-प्रवाह के साथ सम्बन्ध होने से अपने-अपने स्थान में बहते है।।५०।।

श्वासमात्रयलेनापि कूर्मनागादिवायवः[2]।
निवर्तन्ते च धातूनां बन्धं कुर्वन्ति धातुगाः[3]।।५१।।

दो श्वास तक रहने वाले लय से भी कूर्म, नाग आदि वायु निवृत्त हो जाते हैं और धातुगत होकर धातुओं को पुष्ट करते हैं।।५१।।

चतुःश्वासलयेनापि सप्तधातुगताः रसाः।
रसपुष्टिं[4] प्रकुर्वन्ति धातूनां समवायवः।।५२।।

यार श्वास तक के लय से भी सातों धातुओं (कफ, पित्त, रक्त, वसा, मज्जा, शुक्र) के रस समवायु होकर धातुओं के रसों को पुष्टि करते हैं।।५२।।

---

१. (ख) लयेनिष्ठा च योगिनः।
२. (ख) कूर्मवातादिवायवः।
३. (ख) धातवः।
४. (ख) समं पुष्टिं।

लयेन पलमात्रेण[1] चासनस्थो न खिद्यते[2]।
स्वल्पश्वासो भवेद् योगी स्वल्पोन्मेषयुतस्तदा[3]।।५३।।

एक पल तक के लय से भी आसन पर चाहे कितनी ही देर तक क्यों ने बैठे, योगी को थकान नहीं लगती (खिन्नता नहीं होती); तब उसके श्वास-प्रश्वास कम हो जाते हैं और निमेष-उन्मेष भी बहुत कम होते हैं।।५३।।

पलद्वयलयेनापि हृन्नाड्याश्चलनं[4] भवेत्।
अनाहतः स विज्ञेयो मनस्तत्रैव विन्यसेत्[5]।।५४।।

दो पल तक के लय से भी हृदय-नाड़ी का चालन (जागना) होता है[6], उसे अनाहत जानना चाहिए। योगी मन को उसी में लगाये।।५४।।

चतुःपलप्रमाणेन लयेनानुभवो भवेत्।
अकस्मान्निपतत्येव शब्दः कर्णे शुभावहः[7]।।५५।।

चार पल तक के लय से अनुभव होता है। अकस्मात् कान में सुन्दर सुमधुर शब्द सुनायी पड़ता है।।५५।।

पलाष्टकलयेनापि कामस्तस्य निवर्तते।
कदापि नैव जायेत कामिन्यालिंगितस्य च।।५६।।

आठ पल तक के लय से उसकी कामवासना निवृत हो जाती है। कामिनी द्वारा आलिंगित होने पर उसे कभी भी कामोत्पत्ति (काम-प्रवृत्ति) नहीं होती है।।५६।।

---

१. (ख) लयेन लयमात्रेण।
२. (ख) विद्यते।
३. (ख) स्वल्पो मेखलयस्तथा।
४. (ख) हृन्नाड्याश्चलनं।
५. (ख) तत्रैवमभ्यसेन्मनः।
६. "हृदय-नाड़ी का चालन" का अर्थ है अनाहत का क्रियाशील होना।
७. (ख) शब्दस्पातं शुभाशुभम्।
८. (क) तथापि।

कलापादलयेनापि सुषुम्णां यान्ति वायवः[1]।
सुषुम्णावदने गत्या आशु शुद्ध्यन्ति वायवः[2]।।५७।।

चौथाई कला(घड़ी) तक के लय से भी प्राणादि वायु सुषुम्णा में चली जाती हैं। सुषुम्णा के मुख में गमनसे तत्काल सव वायु शुद्ध हो जाती हैं।।५७।।

घटिकार्द्धलयेनापि शक्तिः कुण्डलिनी परा[3]।
मनोवातनिरोधेन जागर्त्याधारसंस्थिता[4]।।५८।।

आधी घड़ी के लय से भी निश्चय ही मूलाधार में स्थित परा कुण्डलिनी शक्ति मन और वायु के निरोध से जाग जाती है।।५८।।

कलामात्रलयेनापि[5] शक्तिः संचलते ध्रुवम्।
[6]ऊर्द्ध्वपश्चिममार्गेण वातरोधेन जाग्रती[7]।।५९।।

एक घड़ी तक[6] के लय से भी वायु का रोध होने पर जगी हुई कुण्डलिनी शक्ति पश्चिम मार्ग (सुषुम्णा मार्ग) द्वारा ऊर्ध्वमुखी होकर ऊपर उठकर चलने लगती है।।५९।।

कलाद्वयलनापि शक्तेः संचलनेन वा[8]।
क्षणादुत्पद्यते तस्य मनसः कम्पनं सकृत्।।६०।।

दो घड़ी तक के लय से भी या शक्ति के संचलन से एक क्षण में एक बार योगी के मन में कम्पन उत्पन्न होता है।

---

१. (ख) सुषुम्णामार्गवाहिनी।
२. (ख) तदा पश्चिममार्गेण तस्य भोगेन गच्छति। (क) मील्य (शुचिवद्यान्ति) वायवः।
३. (क) शक्तिः संचलते ध्रुवम्। (ख) शक्तिः कुण्डलिनी परा।
४. (क) ऊर्ध्वपश्चिममार्गेण वातरोधेन जाग्रति (जाग्रति?),
५. (क) घटिकैकलयेनापि सुषुम्णा मार्गवाहिनी।
६. कला।
७. गच्छति।
८. (क) शक्तिसंचालने वा। (ख) शक्ते संचलनेन च।

चतुः कलालयेनापि निद्राभावो निवर्तते।
हृदि स्फुलिंगवद् योगी तेजोबिन्दुं प्रपश्यति।।६१।।

चार घड़ी तक के लय से योगी का निद्राभाव निवृत्त हो जाता है और वह हृदय में चिनगारी के सदृश तेजोबिन्दु का दर्शन करता है।।६१।।

दिनपादलयेनापि स्वल्पाहारो भवेन्नरः[1]।
स्वल्पमूत्रपुरीषश्च लघुता स्निग्धता तनोः[2]।।६२।।

दिन के चौथे भाग तक के लय से भी योगी का आहार बहुत घट जाता है, उसका मूत्र और पुरीष (मल) भी अल्प मात्रा में होता है एवं शरीर में हल्कापन और स्निग्धता आ जाती है।।६२।।

वासरार्धलयेनापि स्वात्मज्योतिः प्रकाशते।
सूर्यो गोभिरिवोद्दीप्तो[3] योगी विश्वं प्रकाशते।।६३।।

आधे दिन के लय से आत्मज्योति प्रकट होती है। सूर्य जैसे किरणों से उद्दीप्त रहता है, वैसे ही योगी उद्दीप्त होकर विश्व को प्रकाशित करता है।।६३।।

दिनमात्रलयेनापि स्वात्मतत्त्वं प्रकाशते।
इन्द्रियज्ञानविस्तारो ब्रह्माण्डेऽप्यनुवर्तते[4]।।६४।।

दिन भर तक रहने वाले लय से आत्मतत्व प्रकाशित होता है और इन्द्रियों के ज्ञान का विस्तार सारे ब्रह्ममाण्ड तक हो जाता है।।६४।।

---

१. (ख) भवेत्ततः।
२. (ख) स्वल्पमूत्रपुरीषत्वं लघुता स्निग्धता तथा।
३. (ख) स सुगोभिरिवोद्दीप्तो।
४. (ख) ब्रह्माण्डेष्यस्य जायते।

अहोरात्रलयेनापि योगी च स्वासने स्थितः[1]।
चित्तवृत्तिनिरोधेन[2] गन्धं जानाति दूरतः।।६५।।

एक दिनरात तक के लय से भी अपने आसन पर स्थित ही योगी चित्त-वृत्ति का निरोध होने से दूर से ही गन्ध जान जाता है।।६५।।

अहोरात्रद्वयेनापि लयेनानन्दमूर्च्छितः।[3]
दूरादपि रसं वेत्ति योगी संकल्पवर्जितः।।६६।।

दो दिन-रातों तक के लय से भी लयजनित आनन्द से मूर्च्छित हुआ संकल्परहित योगी दूर से ही रस को जान लेता है।

अहोरात्रत्रयेणापि लयेनान्तस्थयोगिनः[4]।
दूरदर्शनविज्ञानं[5] स्वभावेनैव वर्तते।।६७।।

तीन दिन-रातव्यापी लय से अन्तर्मुख हुए योगीका स्वभावतः ही दूरदर्शन विज्ञान सिद्ध हो जाता है (वह दूरस्थित प्राणी-पदार्थ को देखता है)।।६७।।

अहोरात्रचतुष्केण लयभावप्रभावतः।
स्पर्शं जानाति योगीन्द्रोदूरादपि न संशयः।।६८।।

चार दिन-रातव्यापी लयभाव के प्रभाव से उस योगिराज का निश्चय ही आश्चर्यजनक मन से दूर के शब्द को सुनने का विज्ञान उत्पन्न (सिद्ध) हो जाता है।।६९।।

---

१. (ख) लयादानन्दमूर्छितः।
२. (ख) स्थितिवृत्तिनिरोधेन।
३. (ख) लयानन्दसमूर्छितः। (क) लयनादेषु मूर्छित।
४. (ख) लयानन्दस्य योगिनः।
५. (ख) दूराद् दर्शन विज्ञानं।

एकत्वं चेन्द्रियज्ञानं महत्स्वानुभवात्मकम[1]।
जानात्यनेन योगीन्द्रः सकलं विश्ववर्तनम्।।७०।।

इससे योगिराज स्वानुभवात्मक एकत्व, विस्तृत ब्रह्माण्डव्यापी इन्द्रिय ज्ञान तथा सकल विश्व में स्थिति जान जाता है।।७०।।

रात्रिषट्कलयेनापि[2] महाबुद्धिः प्ररोहति।
तावत्कार्यमतीतं[3] च विश्वज्ञानं प्रवर्तते।।७१।।

छः दिन-रातव्यापी लय से महाबुद्धि उत्पन्न होती है, जिससे सब कार्यों तथा अतीत और अनागत विश्व का ज्ञान होता है।।७१।।

सप्तरात्रलयेनापि परे लीनस्य योगिनः।
आब्रह्मविश्ववेतृत्व श्रुतिज्ञानं च वर्तते[4]।।७२।।

सात दिन-रातव्यापी लय से भी परतत्व में लीन हुए योगी का ब्रह्म पर्यन्त विश्वज्ञान तथा श्रुतिज्ञान हो जाता है।।७२।।

अष्टरात्रलयेनापि भवेद् योगो निरामयः।
क्षुत्पिपासादिभावैश्च सहजस्थे न पीड्यते[5]।।७३।।
नवरात्रलयेनापि निर्वेदस्यात्मवर्त्मनः।
वाचः सिद्धिर्भवत्येव[6] शापानुग्रहकारिणी।।७४।।

नौ दिन-रातव्यापी लय से अपरोक्ष आत्मज्ञान के मार्गरूप निर्देश (वैराग्य) की सिद्धि तथा शाप और अनुग्रहकारिणी वाक्सिद्धि अवश्य होती है।।७४।।

---

१. (ख) एवं पंचेन्द्रियज्ञानं महत्तत्त्वस्य कारणम्।
२. (ख) षड्रात्रिविलयेनापि।
३. (ख) यावत्कर्ममतीतं च। (ख)यावत्तर्कमतीतं च।
४. (ख) आब्रह्मविश्वेश्वरत्वं श्रुतिज्ञानं न जायते।
५. (ख) सहजैरपि न पीड्यते।
६. (ख) निर्भेदः स्वात्मवर्तिनः।
७. (ख) वाचासिद्धि भवेत्तस्य।

दशरात्रलयेनापि योगिन्द्रः स्वात्मनि स्थितः।
यानि कानि च गुप्तानि[1] महाचित्राणि पश्यति।।७५।।

दस रातव्यापी लय से स्वात्मनिष्ठ (ब्रह्मनिष्ठ) योगीन्द्र भाँति-भाँति के गुप्त महाश्चर्यों को देखता है।।७५।।

ततश्चैकादशाहेन[3] लयस्थस्य जयोदयात्।
मनसा[2] सहितस्यापि गन्तुमिच्छापि विग्रहः।।७६।।

ग्यारह रातव्यापी लय में स्थित योगीन्द्र को मन के साथ-साथ काया की गति होती है।।७६।।

द्वादशाहलयेनापि भूचरत्वं हि सिद्ध्यति।
निमेषार्धप्रमाणेन[4] पर्यटत्येव भूतले[5]।।७७।।

बारह रातव्यापी लय से योगिराज को भूचरत्व की सिद्धि होती है, जिसके कारण केवल आधे निमेष (पलक मारने) में सारे भूतल में चारों ओर घूम लेता है, इसमें सन्देह नहीं है।।७७।।

ततस्त्रयोदशाहेन लयेनापि महाद्भुताम्[6]।
योगीन्द्र खेचरीसिद्धिं लभते चिन्तनादपि[6]।।७८।।

तदनन्दर तेरह दिन व्यापी लय से योगिराज को केवल चिन्तनमात्र से अद्भुद खेचरी सिद्धि प्राप्त होती है।।७८।।

---

१. (ख) सुगुप्तानि
२. (ख) तथा।
३. (क) तस्य चैकादशाहेन लयस्थस्य जयोदयात्।
४. (क) निमिषार्धप्रमाणेन ।
५. (ख) भूतलम्।
६. (ख) चेतनादपि।

चतुर्दशदिनान्तं तु[1] लयस्थो यदि तिष्ठति।
अणिमाख्या च सिद्धिः[2] स्यादणुत्वं प्राप्यते यया।।७९।।

यदि योगी चौदह दिन पर्यन्त लगातार लयस्थित रह जाता है तो अणिमा नाम की स्थिति उसे प्राप्त होती है, जिससे अणुत्व प्राप्त किया जाता है।।७९।।

आत्मन्येवात्मना लीनो योगी षोडशवासारान्[3]।
लभते महिमासिद्धिं महारूपस्य धृग् यया[4]।।८०।।

यदि योगी लगातार सोलह दिनों तक आत्मा में स्वयं लीन रहे तो 'महिमा' नाम की सिद्धि उसे प्राप्त होती है, जिससे वह महान् रूप धारण करता है।।८०।।

अष्टादशदिनान्तं तु[5] लयस्थो यदि तिष्ठति।
गरिमाख्या भवेत् सिद्धिर्ययाभूभारधृग् भवेत्।।८१।।

यदि योगी अठारह दिनों तक लगातार लयस्थ रहता है तो उसे 'गरिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे वह आवश्यक होने पर भूमिका-सा भारीपन धारण कर लेता है।।८१।।

अभिन्नार्थे लये वापि यश्च विंशतिवासरान्[7]।
लघिमाख्या भवेत्सिद्धिर्ययाणुत्वस्य[8] भारधृक्।।८२।।

जो योगी परतत्त्व में लगातार बीस दिनरात तक लीन रहता है, उसे 'लघिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे वह अणु का भार धारण कर लेता है।।८२।।

---

१. (ख) चतुर्दशदिनानां च ।
२. (ख) अणिमाद्यष्सिद्धिः स्याद्।
३. (ख) वासरात्।
४. (ख) स महारूपधृक् यथा।
५. (ख) अष्टादशदिनानां च।
६. (ख) गरिमाख्यां लभते सिद्धि यथा।
७. (ख) पंचविंशतिवासरन्।
८. (ख) सिद्धिर्यथा।

द्वार्विंशतिदिनान्येवं स्वलक्ष्ये विलयं गतः[1]।
प्राप्तिसिद्धिर्भवेत्तस्य प्राप्ये जगत्स्थितिम्।।८३।।

यदि योगी अपने लक्ष्यभूत परतत्त्व में इस प्रकार से लगातार बाईस दिनों तक विलय को प्राप्त होता है तो उसे 'प्राप्ति' नाम की सिद्धि प्राप्ति होती है, जिससे वह सारे जगत् की स्थिति प्राप्त करता है।।८३।।

परे लयं गतो योगी चतुर्विंशतिवासरान्।
तस्य प्राकाम्यसिद्धिः स्यादिच्छितं लभते ध्रुवम्[2]।।८४।।

यदि योगी लगातार चौबीस दिनों तक परतत्व में लय को प्राप्त रहता है तो उसे 'प्राकाम्य' नाम की सिद्धि प्राप्त होतीं है, जिससे अवश्य ही उसे मनोभिलषित पदार्थों की प्राप्ति होती है।।८४।।

यस्यैवास्तगतं चितं षड्विंशतिदिनानि वै।
लभते जगदीशित्वं[3] येन विश्वगुरूर्भवेत्।।८५।।

जिसका चित्त लगातार छब्बीस दिनों तक परतत्त्व में अस्त (लीन) रहता है, वह जगत् में 'ईशित्व' नाम की सिद्धि प्राप्त करता है, जिससे वह विश्वगुरू होता है।।८५।।

अष्टाविंशत्यहान्यस्य[4] लयस्तिष्ठेत् स्थिरात्मनः[5]।
वर्शिवसिद्धिप्राप्तिः स्याद्ययावै वशयेज्जगत्[6]।।८६।।

जिस स्थिरात्मा योगिराज का लगातार अट्ठाईस दिनों तक परतत्व में लय स्थायी रहती है; उसे 'वशित्व' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे वह सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में कर सकता है।।८६।।

---

१. (ख) द्वाविंशतिदिनानि स्याल्लयक्षेपो लयंगतः।
२. (ख) वशित्वं लभते तथा।
३. (क) 'जगदीशित्वम्' और (ख) 'जगदीशत्वम्।
४. (क) और (ख) अष्टविंशत्यहर्यस्य।
५. (ख) लयस्थस्यस्थिरासने।
६. (ख) वश्यकृज्जगत्।

गन्तुमिच्छन्ति ये केचित् परे ब्रह्मपदे लयम्।
भवन्ति सिद्धयस्तेषां[1] सर्वाः विध्वंसकारिकाः।।८७।।

जो कोई महापुरूष परब्रह्म पद में लीन होना चाहते हैं, उनके लिए ये पूर्वोक्त सब सिद्धियाँ सर्वनाशकारी होती है।।८७।।

मासमेकं लयो यस्य लग्नस्तिष्ठत्यखण्डितः[2]।
न जागर्ति स योगीन्द्रो यावन्मोक्षं न विन्दति[3]।।८८।।

जिन योगी का एक मास तक लगातार अखण्डित लय रहता है, वह योगिराज जब तक मोक्ष नहीं (प्राप्त) होता, तब तक जागता नहीं है।।८८।।

नवमासलयेनापि पृथ्वीतत्त्वं स विन्दति[4]।
पृथ्वीतत्त्वे तु[5] संसिद्धे योगीन्द्रो वज्रसंनिभः।।८९।।

नौ महीने तक के लय से योगिराज को पृथिवीतत्त्व का लाभ हो जाता है। पृथिवीतत्त्व के सिद्ध हो जाने पर योगिराज वज्रतुल्यदेह हो जाता है (उसकी कार्य-सिद्धि हो जाती है)।।८९।।

सार्धसंवत्सरेणापि लयस्थस्यापि योगिनः।
तोयतत्त्वस्य सिद्धिः स्यात् तोयतत्त्वमयो भवेत्[6]।।९०।।

डैढ़ वर्ष तक लगातार परतत्त्व में लीन योगी को जलतत्त्व की सिद्धि होती है, जिससे योगी जलतत्त्वमय हो जाता है।।९०।।

---

१. (ख) सर्वस्तेषां।
२. (ख) मासमेकं लये यस्य लयस्तिष्ठेदखडितः।
३. (ख) यावन्मोक्षं स गच्छति।
४. (ख) स गच्छति।
५. (ख) पृथ्वीतत्त्वेति संसिद्धे।
६. (ख) तोयतत्त्वमयो हि सः।

संवत्सरत्रयेणापि लयस्थस्यापि योगिनः।
तेजस्तत्त्वस्व सिद्धिः स्यात्तेजस्तत्त्वमयो भवेत्[1]।।६१।।

तीन वर्षों तक निरन्तर लयस्थ योगी को तेजस्तत्व की सिद्धि होती है, जिससे वह तेजस्तत्त्वमय (परमज्योतिस्वरूप) हो जाता है।।६१।।

षड्भिः संवत्सरैरेवमखण्डलयसंस्थितः[2]।
वायुतत्त्वस्य सिद्धिः स्यात् वायुतत्त्वमयो भवेत्[3]।।६२।।

इसी प्रकार छः वर्षों तक यदि योगी अखण्ड परतत्त्वलय में स्थित हो तो उसे वायुतत्त्व की सिद्धि होती है। वायुतत्त्व की सिद्धि से वह वायुतत्त्वमय हो जाता है।।६२।।

तथा द्वादशभिर्वर्षैर्लयस्थस्य निरन्तरम्।
व्योमतत्त्वस्य सिद्धिः स्याद् व्योमतत्त्वमयो भवेत्[4]।।६३।।

इसी प्रकार बारह वर्षों तक निरन्तर लयस्थ योगी को आकाशतत्त्व की सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे वह आकाशतत्त्वमय (सर्वव्यापक) हो जाता है।।६३।।

ब्रह्माण्डंसकलं पश्येत् करस्थमिव मौक्तिकम्[6]।
आत्मकायस्वरूपं च निर्धार्याथ यथेप्सितम्[7]।।६५।।

तदनन्तर वह (योगिराज) अपने शरीर का मनचाहा स्वरूप प्रांप्त कर अर्थात् अपना, जैसी इच्छा हो, वेसा स्वरूप बना कर सम्पूर्ण ब्रह्ममाण्ड को हथेली में रखे मोती के समान देखे।।६५।।

---

१. (ख) तेजस्तत्त्वमयो हि सः।
२. (ख) षड्भिः संवत्सरैर्भूतैररख्डलयसंस्थिते।
३. (ख) वायुतत्त्वमयो हि सः।
४. (ख) व्योमतत्त्वमयो हि सः।
५. (ख) शक्तितत्त्वमयो हि सः।
६. (ख) ब्रह्माण्डान् सकलान् पश्येत्पाणिस्थमिव मौक्तिकम्।
७. (ख) निर्धार्याथ यथास्थितम्।

कायस्थो दृश्यते लोकं[1] तत्त्वचर्या समाचरन्।
तत्त्वचर्या करोत्येव शक्तितत्त्वक्षयाय च।।६६।।

कायस्थ (शरीरस्थित) योगी लोक में तत्वचर्या का आचरण करता हुआ दिखायी देता है, क्योंकि शक्तितत्त्व के विनाश के लिए उसे तत्वचर्या अवश्य ही करनी पड़ती है।।६६।।

इत्थं क्रमविवृद्धेन लयाभ्यासेन योगिनः।
भुञ्जते परमानन्दं भुशुण्ड्यादिमहात्मवत्।।६७।।

इस प्रकार क्रम से वृद्धि प्राप्त हुए लयाभ्यास से योगी भुशुण्डि आदि महात्माओं के तुल्य परमानन्द का भोग करते हैं।।६७।।

ब्रह्माविष्णुमहेशानां प्रलयेष्वपि योगिनाम्।
नास्ति पातो लयस्थानां महातत्त्वे विवर्तिनाम्।।६८।।

ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के प्रलय होने पर महातत्त्व में अधिष्ठित लयस्थ योगियों का पात (नाश) होता है।।६८।।

इत्यमनस्कखण्डे[2] ईश्वरपार्वतीसंवादे[3]

प्रथमोऽध्यायः।।

---

१. (ख) लोको
२. (ख) पुस्तकपाठः, अमनस्केयोगशास्त्रे।
३. (ख) पाठः - ईश्वरवामदेवसंवादे।

उत्तरार्ध

श्रीवामदेव उवाच-

भगवन् देवदेवेश परमानन्दसुन्दरम्।
अपरं किञ्चदाख्याहि भवता यदुदीरितम्।।१।।

श्रीवामदेवजीने कहा - भगवान ! हे देवाधिदेव !! आपने जो पहले कहा था, उसी तरह का परमानन्दायक वृतान्त कहने की कृपा कीजिये।।१।।

श्रीईश्वर उवाच -

बहिर्मुद्रान्वितं पूर्वं बहियोंगेन तन्मयम्।
अन्तर्मुद्राख्यमपरं तयोर्योगः तदेव हि।।२।।

श्रीमहादेवजी ने कहा - हे मुने! पूर्वोक्त तारक और अमनस्क, दो योगों में पूर्वयोग अर्थात् तारकयोग बाहरी मुद्रा से युक्त होने के कारण वाह्ययोग अर्थात बहिर्योगमय है, दूसरा अर्थात् अमनस्क अन्तर्मुद्रा नामक है, अतएव वही यथार्थ योग है।।२।।

राजयोगः स कथितः स एव मुनिपुंगव।
राजत्वात् सर्वयोगगानां राजयोग इति स्मृतः।।३।।

हे मुनिश्रेष्ठ! वही राजयोग कहा गया है, क्योंकि वह सब योगों का राजा है, इसलिए राजयोग कहलाता है।।३।।

राजानं दीप्यमानं तं परं ब्रह्माणमव्ययम्।
देहिनः प्रापयेद् यस्तु राजयोगः स उच्यते।।४।।

जो योग देहधारियों को राजा के तुल्य शोभायमान (देदीप्यमान) उस अव्यय परब्रह्म में पहुँचता है, वह राजयोग कहलाता है।।४।।

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः।
ज्ञानात् सिद्ध्यति मुक्तिर्हि गुरोर्ज्ञानं च लभ्यते।।५।।

हे मुनिवर! राजयोग का वास्तविक माहात्म्य कौन जान सकता है? उसके ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है और गुरू से ज्ञान प्राप्त होता है।।५।।

अन्तर्योगं वहिर्योगं यो जानाति विशेषतः।
मया त्वयाप्यसौ वन्द्यः शेषैर्वन्द्यस्तु किं पुनः।।६।।

जो पूर्वोक्त अर्न्तयोग और बहिर्योग को विशेषरूप से (तत्त्वतः) जानता है, वह मेरा और तुम्हारा भी वन्दनीय है। औरों का वन्दनीय है, इसमें तो कहना ही क्या है?।।६।।

चित्तं बुद्धिरहंकार ऋत्विक् सोमश्च पञ्चमः।
इन्द्रियाणि दशप्राणान् जुहोति ज्योतिर्मण्डले।।७।।

चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक् और पाँचवा सोम- ये दस इन्द्रियों और प्राणों का ज्योतिर्मण्डल में हवन करते हैं[1]।।७।।

---

१. देह में पाँच तत्त्व हैं- चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक् (कर्म करने वाली अस्मिता) एवं सोम (अमृत, मन)। ये पाँचों होम करने वाले हैं। दस इन्द्रियाँ होम की सामग्रीयाँ हैं (हव्य हैं) और ज्योतिर्मण्डल होम कुण्ड है।

तन्मूलान्नादिपर्यन्तं विभाति ज्योतिर्मण्डलम्।
योगिभिः सततं ध्येयमणिमाद्यष्टसिद्धिदम्।।८।।

उनके मूलभूत अन्नादिपर्यन्त ज्योतिर्मण्डल शोभित होता है। उसका योगियों को सदा ध्यान करना चाहिए। वह अणिमा आदि सिद्धियाँ देनेवाला है।।८।।

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव।।९।।

वेद, शास्त्र, पुराण गणिका के तुल्य सर्वसाधारण हैं, सबकी उन तक पहुँच है, केवल एकमात्र शाम्भवी विद्या ही कुलवधू की तरह गुप्त है।।९।।

अन्तर्लक्षबहिर्दृष्टिनिमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा हि शाम्भवीमुद्रा सर्वशास्त्रेषु गोपिता।।१०।।

यह शाम्भवी-मुद्रा अन्तर्लक्ष्यवाली, बहिर्दृष्टिवाली और निमेष एवं उन्मेष से शुन्य है अर्थात शाम्भवी मुद्रा में बहिर्दृष्ट होने पर भी अन्तर्लक्ष्य होता है और दृष्टि में निमेष और उन्मेष नहीं होते हैं। यह सब शास्त्रों में छिपाई गई है, गोपित है।।१०।।

आदिशक्तिरुमाचैषा मत्तो जन्मवतीपुरा।
अधुना जन्मसंस्कारात्त्वमेको लब्धवानसि।।११।।

यह साम्भवी-मुद्रा आदिशक्ति उमारूप है, यह पहले मुझसे उत्पन्न हुई थी, इस समय जन्मसंस्कारवश तुमने इसे प्राप्त किया है।।११।।

गुह्याद् गुह्यतरा विद्या न देया यस्य कस्यचित्।
एतज्ज्ञानं वसेद् यत्र स देहः पुण्यभाजनम्।।१२।।

यह विद्या गुह्य से भी गुह्यतर (अधिक गुह्य) है। इसे किसी को नहीं देना चाहिए। यह ज्ञान जहाँ रहता है, वह (देह) पुण्यभाजन है[1]।।१२।।

---

१. 'देश' के स्थान पर 'देहः' पाठ अच्छा मालूम होता है।

दर्शनात् स्पर्शनात्तस्य त्रिसप्तकुलसंयुता।
जना मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणः[1]।।१३।।

उसके दर्शन और स्पर्श से अपनी इक्कीस पीढ़ियों के साथ लोग मुक्ति पद को प्राप्त होते हैं। इस मुद्रा से युक्त पुरूषों का तो कहना ही क्या है।।१३।।

नोर्द्ध्वाधः कुण्डलीभेद उन्मन्याश्चैव न क्रमः।
अनुसन्धानमात्रेण योगोऽयं सिद्धिदायकः।।१४।।

इस योग में ऊर्ध्वकुण्डली या अधःकुण्डलिनी भेद नहीं है। उन्मनी-मनोन्मनी का भी क्रम नहीं है। यह योग केवल अनुसन्धान मात्र से[2] सिद्धि प्रदान करता है।।१४।।

ऊर्द्ध्वमुष्टिरधोदृष्टिरूर्द्ध्वभेदस्त्वधः शिराः।
धरायन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भविष्यति।।१५।।

ऊपर की ओर मुष्टि, नीचे की ओर दृष्टि, ऊपर को भेद और नीचे की ओर सिर का "धरायन्त्र" की विधि से साधक जीवनमुक्त होगा।।१५।।

---

१. तुलनीय - कृतार्थौं पितरौ तेन देशः कुलं च तत्।
जायते योग्यवान् यत्र दत्तमक्षययतां व्रजेत्।।
दृष्टः सम्भाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान्।
भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम्।। (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

२. शास्त्रों में तीन प्रकार के योग का वर्णन है-(१) आणवयोग (२) शाक्तयोग और (३) शांभयोग।
आणवयोग में शरीर, प्राण, मन, बुद्धि को लेकर साधना होती है, जैसे आसन द्वारा देहजय, मुद्रा-बंध-प्राणयाम द्वारा प्राणजय, ध्यान द्वारा मनजय इत्यादि।
जब कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है, तब शाक्तयोग (शक्तिअनुसंधान) होता है। ऐसा होता है कि शक्ति सहस्रार में तो पहुँच गयी है, किन्तु शिवत्वबोध नहीं है। इसलिए बोध करने का जो उपाय है, वह शांभवयोग (स्वरूपअनुसंधान) है, जो अनुसंधानात्मक है ('शिवोऽम्')।
कुलाचाररताः सन्ति गुरवो बहवो मुने।

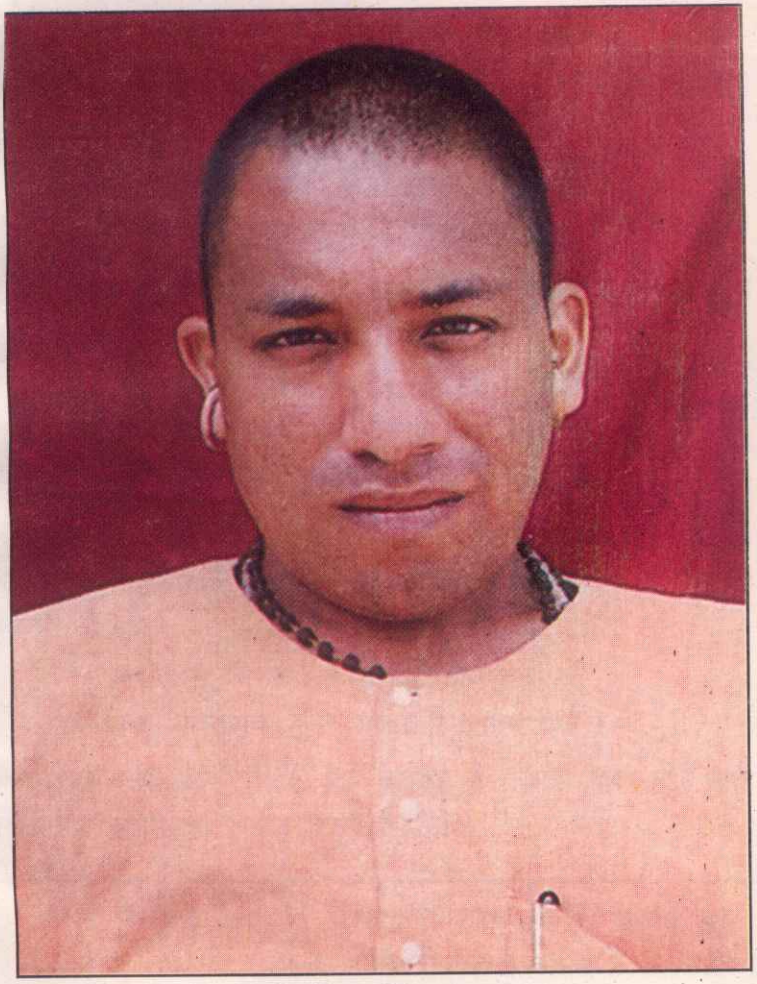

योगी आदित्यनाथ

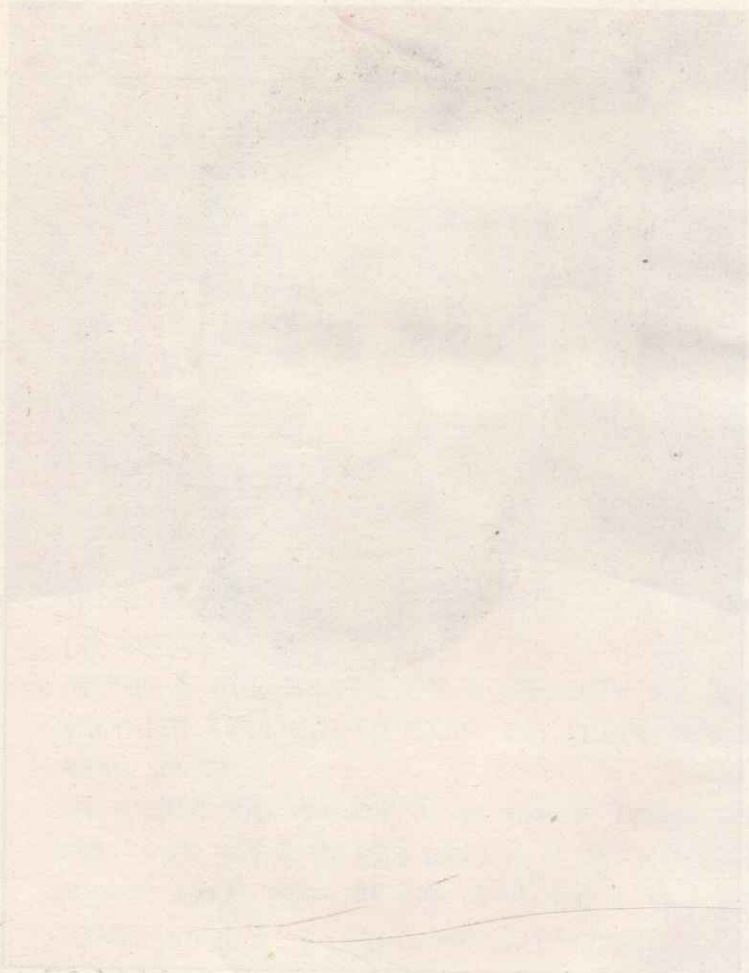

कुलाचारविहीनस्तु गुरूरेको हि दुर्लभः।।१६।।

हे मुने! कौलों के आचार में रत बहुत से गुरू हैं, किन्तु कौलाचार से विहीन एक ही गुय है, उसका प्राप्त होना सरल नहीं है।।१६।।

पुष्पात् प्रकाशते यद्वत् फलं पुष्पविघातकम्।
देहात्प्रकाशते तत्त्व तत्त्वं देहविनाशकम्।।१७।।

जैसे फूल से फल प्रकट होता है, परन्तु फल फूल का विनाशक है, वैसे ही देह से तत्त्व प्रकट होता है, तत्त्व देह का विनाशक है।

फलप्रकाशकं पुष्पं फलं पुष्पविनाशकम्।।
तत्त्वप्रकाशको देहस्तत्त्वं देहविनाशकम्।।१८।।

फूल फल का प्रकाशक है, फल फूल का विनाशक है। देह तत्त्व का प्रकाशक है, तत्त्व देह का विनाशक है।।१८।।

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढ़ः शास्त्रेषु मुह्यति।
गोः कक्षगते छागे कूपे पश्यति दुर्मतिः।।१९।।[1]

जैसे मूर्ख ग्वाला बकरी के बच्चे के बगल में रहते ही मूर्खतावश उसे कुएँ में झाँकता फिरता है, वैसे ही मूढ़ पुरूष अपने में स्थित तत्त्व को न जानकर शास्त्रों में मोह को प्राप्त होते हैं अर्थात् व्यर्थ शास्त्रों (के पठन-पाठन) में भटकते हैं।।१९।।

नमोऽस्तु गुरूवे तुभ्यं सहजानन्दरूपिणे।
यस्य वाक्यामृतं हन्ति संसारमोहनामयम्।।२०।।

सहजानन्दरूपी आप गुरू के लिए नमस्कार है, जिनका वाक्य-रूपी अमृत संसारमोहरूपी व्याधि का विनाश करता है।।२०।।

---

१. अन्यत्र भी कहा गया है- शुष्कशास्त्रविवादेषु नैवायुः क्षपयेद् बुधः।
नहि दीपकवार्तायामन्ध्कारो विनश्यति।।
अमृतोद्दीपिनी विद्या निरपाया निरंजना।

अमनस्का कला कापि जयत्यानन्ददायिनी।।२१।।

यह अमनस्का विद्या अमरता को उद्दीप्त करनेवाली, कभी विनष्ट न होनेवाली और किसी भी प्रकार के कालुष्य से रहित (पुण्यस्वरूपा) है। यह आनन्दप्रदायिका लोकोत्तर कला सबसे उत्कृष्ट होने के कारण सर्व वन्दनीय है।।२१।।

प्राणाष्टोच्छवासनिःश्वासविध्वस्तविषयग्रहः।
निश्चेष्टो निर्गतारम्भोह्यान्द एव योगिनः।।२२।।

प्राणवायु के आठ उच्छ्वास और निःश्वासो से जिसमें रूप आदि विषयों का ग्रहण नहीं होता, जिसमें हस्त, पाद आदि अंगों की चेष्टाएँ नहीं होती अर्थात् निश्चलतायुक्त एवं किसी प्रकार का कार्यारम्भ जिसमें नहीं होता अर्थात् निष्क्रियातासम्पन्न आनन्द ही योगी का है।।२२।।

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निश्शेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जगतां वागगोचरः।।२३।।

जिसमें सब प्रकार के संकल्प छिन्न-भिन्न हो चुके हैं, सब चेष्टाएँ निश्शेष ही गयी हैं, केवल अपने अनुभव से ज्ञेय कोई अद्भुत लय लोगों की वाणी का अगोचर है, उसका वाणी द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।।२३।।

वदन्त्येव परं ब्रह्म बुद्धिमन्तो हि सूरयः।
सर्वबोधकलालापकुशलम दुर्लभा भुवि।।२४।।

बुद्धिमान् विद्वान पुरूष परम ब्रह्म को वाणी से कहते भर हैं, सबको बोध (ज्ञान) कराने की कला के आलाप में कुशल पुरूष पृथ्वी में दुर्लभ हैं या सब बोधकलाओं (ज्ञानकलाओं) के उपदेश में कुशल पुरूष पृथ्वी पर दुर्लभ हैं।।२४।।

विन्दन्त्यनात्मनोऽभावं वेदान्तोपनिषद्विदः।
रहस्यमुपदिश्यापि स्वयं नानुभवन्ति ते।।२५।।

वेदान्तउपनिषदों के मर्मज्ञ अनात्मा के अभाव को तत्व जानते हैं। वे उसका उपदेश देते हैं पर स्वयं उसका अनुभव नहीं करते हैं।।२५।।

विज्ञाय योगशास्त्राणि नानागुरूमतानि च।

निबद्धः स्वावबोधो यं सद्यः प्रत्ययकारकः।।२६।।

विविध योगशास्त्रों का तत्व भली भाँति जानकर तथा अनेकानेक गुरूजनों के मतों को भी भली प्रकार जानकर यह जानकर यह अमनस्क नामक नामक स्वावबोध (आत्मबोध) रचा गया है। यह सद्यः ज्ञानकारक है।।२६।।

सकलं समनस्कं च सोपायं च सदा त्यज।
निष्कलं निर्मनस्कं स निरायासं सदा भज।।२७।।

समनस्क, सकल (प्राणदि नामान्त कलाओं से युक्त) और विनश्वर है, का सदा त्याग करो और निर्मनस्क (अमनस्क), जो कलारहित और आयासविहीन है[1], का सदा सेवन करो।

दुग्धाम्बुवत् संमिलितौ तुल्यक्रियौ मानसमारूतौ च।
यावन्मनस्तत्र मरूत्प्रवृत्तियविन्मरूच्चापि मनः प्रवृत्तिः।।२८।।[2]

मन और वायु दूध और जल की तरह परस्पर मिले हुए हैं, उन दोनों की क्रिया भी एक-सी है। उन दोनों में जब तक मन रहेगा तबतक वायु की प्रवृत्ति भी रहेगी और जबतक वायु रहेगी तब तक मन की भी प्रवृत्ति रहेगी।।२८।।

तत्रैकनाशादपरस्य नाशः एकप्रवृत्तेरपरप्रवृतिः।
अभ्यस्तियोरिन्द्रिय[3] वर्गवृद्धिर्विध्वस्तयोर्मोक्षपदस्यसिद्धिः।।२९।।

उन दोनों में एक के विनाश से दूसरे का विनाश हो जाता है और एक की प्रवृत्ति से दूसरे की प्रवृत्ति होती है। उन दोनों के प्रवृत्ति होने पर इन्द्रियवर्ग की वृद्धि (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदि की ओर अधिक आकर्षण) होती है ओर उनके विध्वस्त होने पर मुक्ति प्राप्त होती है।।२९।।

---

१. 'निरपायम्' ऐसा पाठ मानने पर 'अविनाशी' है- यह अर्थ होगा।
२. चले वाते चले चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।। (हठयोगप्रदीपिका २/२)
३. अभ्यस्तयोस्तत्र त्रिवर्गवृद्धिः इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति। अर्थात् मन और वायु के अभ्यस्त होने पर त्रिवर्ग- धर्म, अर्थ और काम की वृद्धि होती है।

तत्राप्य[1]साध्यः पवनस्य नाशः

षाडंगयोगादिनिषेवणेन
मनोविनाशस्तु गुरूप्रसादा-
न्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव।।३०।।

उन दोनों में वायु का विनाश षडंग-योग आदि के कौशल के साथ सेवन से साध्य है और मन का विनाश तो श्रीगुरूदेव के अनुग्रह से एक पलभर में ही सुसाध्य होता है।।३०।।

तस्मान्मनोनाशवतोऽमनस्कता
यन्नाशतो नश्यति वायुरग्रे।
तस्मात्सुबुद्धीन्द्रियदेहनाशा-
दद्वैतबुद्धिः सहजस्थितस्य।।३१।।

इसलिए जिसके मन का विनाश हो चुका, उसे अमनस्कता (अमनस्क योग) प्राप्त है। मन के नाश के पहले वायु विनष्ट हो जाती है। वायु और मन के विनाश से बुद्धि, इन्द्रिय और देह का विनाश होने के कारण अमनस्क योग को (सहजतत्त्व में स्थित योगी को) अद्वैतबुद्धि होती है।।३१।।

जित्वा वायुं विविधकरणैः क्लेशमूलैः कथंचित्,
कृत्वा यत्नं निजतनुगताशेषनाडीप्रचारान्
अश्रद्धेयां परपुरगतिं साधयित्वापि नूनम,
विज्ञानेऽपि व्यसनसुखिनो नास्ति तत्त्वस्यसिद्धिः।।३२।।

कष्टकारी विविध साधनों से किसी प्रकार कठिनाई से वायु परविजय प्राप्त कर और उसका प्रयत्नपूर्वक अपने शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियों से संचार कर, अश्रद्धेय (अविश्वसनीय) परकायप्रवेश को असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर विज्ञान में व्यसन से सुख मानने वाले को भी अर्थात् विज्ञानार्जन में अत्यन्त परिश्रमशील साधक को भी तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है।।३२।।

---

१. ध।
केचिन्मूत्रं पिबन्ति स्वमलमथ तनौ केचिदुज्झन्ति लालां

केचित्काष्ठां प्रविष्टा युवतिभगगतं विन्दुमूर्ध्वं नयन्ति।
केचित्खादन्ति धातून् अखिलतनुशिरावायुसंचारदक्षा-
नैतेषां देहसिद्धिर्विगतनिजमनोराजयोगादृते स्यात्।।३३।।

कई (अघोरपंथी) अपना मूत्र पीते हैं, कई अपना मल ग्रहण करते हैं, कई अपने शरीर पर राख पोतते हैं, दुराचरण की पराकाष्ठा को प्राप्त हुई कई युवती जनों के गुह्यांग की बूदों को ऊपर खींचते हैं, कई विविध प्रकार की धातुओं (रसों) का सेवन करते हैं, और कई शरीर की समस्त नाडिऋयों में वायु का संचार करने में निपुण हैं, परन्तु इन सबको कार्यसिद्धि प्राप्त नहीं होती। कार्यसिद्धि का अमनस्क (जिससे अपना मन विलीन हो गया ऐसे) राजयोग के सिवा दूसरा साधन नहीं है।।३३।।

केचित्तार्कवितर्ककर्कशधियोऽहंकारदर्पोद्धताः
केचिज्जातिगताभिमानभरिता ध्यानादिकर्माकुलाः।
प्रायः प्राणिगणा विमूढ़मनसो नानाविकारान्विता
दृष्यन्ते नहि निर्विकारसहजानन्दैकभोगाकुलाः।।३४।।

नाना तर्कों के ऊहापोह से कर्कश बुद्धिवाले कई लोग निविड़ अहंकार से उद्धत रहते हैं एवं कई जातिगत अभिमानान्वित होकर ध्यान आदि कर्मों में व्यग्र रहते हैं। पृथ्वी पर प्रायः सभी प्राणी मूढ़मन (विकृतमस्तिष्क) है तथा अनेक प्रकार की विकृतियों से युक्त हैं। एकमात्र निर्विकार सहजानन्द का उपभोग करनेवाले लोग नहीं दिखाई देते हैं।।३४।।

एकदण्डत्रिदण्डादि जटाभस्मादिकं तथा।
केशमुंचननग्नत्वे रक्तचीवरधारणम्।।३५।।
उन्मत्तातामभोज्यान्नपानं पाखण्डवृत्तिता।
इत्यादिलिंगग्रहणं नानादर्शनदर्शनम्।।३६।।

कई एक दण्डधारी हैं तो कई त्रिदण्ड आदि धारण करने वाले हैं, कई जटाधारी हैं तो कई सर्वाङ्ग में खूब भभूत रमाये हुए हैं, कई मुण्डितमस्तक है तो कई नग्न रहने वाले हैं और कई रक्तवस्त्र धारण करनेवाले हैं। कई उन्मत्त-से हैं तो कई अभोज्य भक्षण, अपेय पान आदि पाखण्डवृति धारण करते

हैं- इत्यादि अनेक लिंगोंका ग्रहण केवल नाना रूपों का प्रदर्शनमात्र है१।।३५-३६।।

नोत्पन्नस्वावबोधस्य ह्युदासीनस्य सर्वतः।
सदाभ्यासरतस्यैते ष्वेकमप्युपयुज्यते ।।३७।।

जिनको आत्मज्ञान हो चुका, जो सर्वदा सभी ओर से उदासीन हैं और सदा अभ्यास में निरत हैं उनमें पूर्वोक्त एकदण्ड, त्रिदण्ड धारण आदि लिगों में एक भी उपयोगी नहीं होता।।३७।।

सदा दृष्टिविशेषाश्च विविधान्यासनानि च।
अन्तःकरणभावाश्च योगिनो नोपयोगिनः।।३८।।

सदा दर्शनविशेष अर्थात् निरन्तर विविध प्रकार की दृष्टियों का अभ्यास (त्राटक आदि), नाना प्रकार के आसनों का अथ्यास तथा अन्तःकरण भाव (एकाग्रता का अभ्यास), ये सब योगी के लिए उपयोगी नहीं हैं।।३८।।

अहंकारवृत्ताः केचिद् ज्ञात्वा शास्त्रसमुच्चयम्।
उपदेशं न जानन्ति ते च ग्रन्थशतैरपि।।३९।।

जो लोग विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर अहंकारवान् होते हैं, प्रचुर गर्वयुक्त होते हैं, वे सैकड़ों ग्रन्थों के अध्ययन से भी उपदेश देना नहीं जानते हैं।।३९।।

---

१. श्रीमद् आद्यशंकराचार्यजी ने स्वरचित "चर्पटपंजरिकास्तोत्रम्" में ऐसा ही लिखा है-

जटिलो मुण्डी लुंचितकेशः
काषायाबंरबहुकृतवेषः।
पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ़ः
उदरनिमित्तं बहृकृतवेषः।।

-भजगोविन्दम्.....

संकल्पमूलध्यानादिचिन्ताशास्त्रे समाकुलाः।

क्लेशेनापि न विन्दन्ति प्राप्तव्यस्थानमीप्सितम्।।४०।।

संकल्पमूलक ध्यान आदि की विचार-चर्चा से भरे हुए शास्त्रों में आकुलमति लोग क्लेश से भी अपने अभीष्ट गन्तव्य स्थान को नहीं जान पाते हैं।।४०।।

वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्च
नानाविधैः शास्त्रकदम्कैश्च।
ध्यानादिभिः सत्करणैर्नगम्यं
चिन्तामणिंत्येकगुरूं विहाय।।४१।।

चिन्तामणिस्वरूप एकमात्र गुरू के अनुग्रह के सेवा वेदान्त-प्रतिपादित महावाक्यों के उपदेशों से, तर्कशास्त्र में प्रतिपादित युक्तियों के कथनों से आगमों के अध्ययन से, विविध प्रकार के अन्यान्य शासत्रों के ज्ञानार्जन से, ध्यानादि उत्तम साधनों से अपने गन्तव्य स्थान की प्राप्ति संभव नहीं है।।४१।।

तस्मान्नूनं सकलविषया निष्कलाध्यात्मयोगाद्
वायोर्नाशस्तदनु मनसस्तद्विनाशाच्च मोक्षः।
स्याच्चेदेवं सहजममलं निर्विकारं निरीहं
ज्ञात्वा यत्नं कुरूत कुशलः पूर्वमेवामनस्के।।४२।।

इसलिए यह निश्चित है कि सब विषय निष्कल अध्यात्मयोग से विनिष्ट होते हैं। आत्मयोग से ही वायु का का विनाश होता है, वायु-विनाश क उपरान्त मन का विनाश होता है और मनके विनाश से मोक्ष होता है यदि सहज, निर्मल, निर्विकार और निरीह आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर ऐसा होता हो तो कुशल पुरूषो! पहले ही अमनस्क के सम्बन्ध में (अमनस्क प्राप्ति के लिए) यत्न करो।।४२।।!

अभ्यस्तैः किमुदीर्घकालममलैर्व्याधिप्रदैर्दुष्करैः

प्राणायामशतैरनेककरणैर्दुःखात्मकैर्दुर्जयैः।
यस्मिन्भ्युदिते विनश्यति बली वायुः स्वयं तत्क्षणात्
प्राप्त्यैतत्सहजं स्वभावनिशं सेवध्वमेकं गुरूम्।।४३।।

विविध व्याधियाँ उत्पन्न करनेवाले, बड़ी कठिनाई से करने योग्य, दुःखरूप, दुर्जय तथा अनेक साधनों से सम्पन्न होनेवाले सैकड़ों प्राणायामों के सुदीर्घ काल तक अभ्यास करने से क्या लाभ? जिसके उदित होने पर बलवती वायु स्वयं तत्क्षण विनिष्ट हो जाती है; उसी सहज सवभावभूत अमनस्क की प्राप्ति के लिए निरन्तर एकमात्र गुरी की सेवा करो।।४३।।

गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णुर्गुरूर्देवो महेश्वरः।
गुरूदेवात्परं नास्ति तस्मात्तं पूजयेत्सदा।।४४।।

गुरू ब्रह्मा है, गुरू विष्णु है, गुरू ही देवाधिदेव महादेव है। गुरूदेव से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। इसलिए सदा गुरू की पूजा-अर्चना करनी चाहिए।।४४।।

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना निमेषाद्,
वायुः स्थिरं यस्य विनावलम्बात्,
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बात्,
स एव योगी स गुरूः स सेव्यः।।४५।।[1]

जिसकी निमेष (पलक गिरने) के बिना ही दृष्टि स्थिर हो, निरोध के बिना ही जिसकी वायु स्थिर वायु हो, बिना किसी अवलम्ब के जिसका चित्त स्थिर हो, वही योगी है, वही योगी है, वही गुरू है, उसी की सेवा करनी चाहिए।।४५।।

अमनस्कं सुशिष्येषु संक्राम्येन्द्रियजं सुखम्।
निवारयन्ते ते वन्द्या गुरूवोऽन्ये प्रतारकाः।।४६।।

जो सुशिष्यों में 'अमनस्क' को संक्रान्त कर इन्द्रियजन्य सुख को हटाते हैं, निवृत्त करते हैं, वे गुरू वनदनीय हैं, उनसे अन्य गुरू- गुरू नहीं हैं, वंचक हैं।।४६।।

---

१. प्रथमखण्ड के १४ वें श्लोक में यही भाव व्यक्त है।
गुरूणा दर्शिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत्।

विमुक्तं मन्येतात्मानं मुच्यते नात्र संशयः।।

श्रीगुरू द्वारा उसके अर्थात् अमनसक योग के प्रदर्शित किये जाने पर शिष्य को ततक्षण तन्मय हो जाना चाहिए और अपने को विमुक्त समझना चाहिये। इस प्रकार का शिष्य अवश्य मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है।।४७।।

यथा सिद्धरसस्पर्शात ताम्रं भवति काञ्चनम्।
गुरूपदेशश्रवणाच्छिष्यस्तत्त्वमयस्तथा।।४८।।

जैसे सिद्ध (शोधे गये) पारे के स्पर्श से ताँबा सोना हो जाता है, वैसे ही गुरू के उपदेश सुनने से शिष्य तत्त्वमय हो जाता है।।४८।।

तस्मादुपासनात् सम्यक् सहजं प्राप्यते गरोः।
अनायासेन सततमात्माभ्यासरतो भवेत्।।४९।।

इसलिए गुरू की भलीभाँति उपासना करने से वह सहज तत्त्व (अमनस्क) अनायास गुरू से प्राप्त होता है। शिष्य को उसको प्राप्त कर निरन्तर आत्माभ्यास करना चाहिए।।४९।।

विविक्ते विजने देशे पवित्रेऽतिमनोहरे।
समासने सुखासीनः पश्चात् किंचित्समाश्रयेत्।।५०।।
सुखस्थापितसर्वाङ्गः सुस्थिरात्मा सुनिश्चलः।
बाहुदण्डप्रमाणेन कृतदृष्टिः समभ्यसमेत्।।५१।।

पवित्र निर्जन मनोहर प्रदेश में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर तनकर सुखपूर्वक आसीन होकर[1] सुख से सब अंगो को यथास्थान सथापित कर, सुस्थिर चित्त और निश्चल होकर एक हाथ तक आगे की ओर दृष्टि लगाकर अभ्यास करे।।५०-५१।।

---

१. देखिये श्रीगीता-

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।६/१३।।
एवं श्रीपाञ्जल योगसूत्र,-'स्थिरसुखमासनम्'।।२/४६।।
शिथिलीकृतसर्वाङ्ग आनखाग्रशिखाग्रतः।

सबाह्याभ्यन्तरे सर्व चिन्ताचेष्टाविवर्जितः।।५२।।
यदा भवेदुदासीनस्तदा तत्त्वं प्रकाशते।
स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे स्वानन्दस्तत्क्षणाद् भवेत्।।५३।।

पैर के नख से लेकर शिखा के अग्रभाग तक सम्पूर्ण अंगों को शिथिल कर योगी बाहरी और भीतरी सब चिन्ता और चेष्टा का त्याग कर जब उदासीन होगा, तब अमनस्क तत्त्व का प्रकाश होता है। उक्त तत्त्व के स्वयं प्रकाश में आने पर आत्मानन्द तत्क्षण प्राप्त होता है।।५२, ५३।।[1]

आनन्देन च सन्तुष्टः सदाभ्यासरतो भवेत्।
सदाभ्यासे स्थिरीभूते न विधिर्नैव च क्रमः।।५४।।

आनन्द से सन्तुष्ट होकर सदा अभ्यास में निरत रहना चाहिए। सदा अभ्यास के स्थिर होने पर फिर न कोई विधि है और न कोई क्रम है।।५४।।[2]

न किंचिच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किंचिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।५५।।

योगी कुछ भी चिन्तन न करे, औदासीन्यपरायण (चिन्तप में उदासीन अथवा तटस्थ) हो। कुछ चिन्तन न करने से ही तत्त्व स्वयं प्रकाश में आ जाता है।।५५।।[3]

---

१. देखिये श्रीगीता, अध्याय ६, श्लोक १४ एवं १५।

२. विधिकर्तव्य = निश्चय। क्रम = पूर्वापरभाव (प्रथम, द्वितीय, तृतीय) अर्थात् करणीय कर्म किस नियम से, किससमय में, किस प्रकार करना चाहिए, यह सब जानने की आवश्यकता नहीं है।

३. "चिंतन न करने का अभ्यास करना चाहिए" अर्थात् गीता के ६/२५ (शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्) के अनुसार आत्मस्वरूप में मन को बैठाकर सर्वप्रकार के विषयों का चिंतन-वर्जन करे और चित्त कर्तृत्व-बोधशून्य रहे।
स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत्।

इदं तदिति तद्वक्तुं गुरूणापि न शक्यते।।५६।।[1]

तत्त्व जब स्वयं प्रकाशित होता है, तब तत्क्षण उपासक (योगी) तत्त्वमय हो जाता है। 'यह वह (तत्त्व) है' इस प्रकार उसका प्रतिपादन गुरू भी नहीं कर सकते[1]।।५६।।

वाङ्मनःकायसंक्षोभं प्रयत्नेन विवर्जयेत्।
शिलाचित्रमिवात्मानं सुस्थिरं धारयेत्तदा।।५७।।

वाणी, मन तथा शरीर के क्षोभ का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिए अर्थात साधक सदा ऐसा प्रयत्न करे, जिससे वाणी, मन और शरीर में क्षोभ न आये। शिला की प्रतिमा के समान उसे अपने शरीर को अच्छी तरह सुस्थिर (निश्चल) रखना चाहिए।।५७।।

यावत्प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत्संकल्पकामना।
अहं त्वमिति सम्प्राप्तिस्तावत्तस्य का कथा।।५८।।

जब तक थोड़ा-सा भी प्रयत्न रहेगा, जब तक संकल्प-कामना होगी, अहं-त्वम्-मैं-तुम का ज्ञान है अर्थात मैं और तुम - इस प्रकार का द्वैत बोध रहेगा तब तक तत्त्व की बात कहाँ?।।५८।।

औदासीन्यामृतौघेन वर्धमानेन योगीनाम्।
उन्मूलितमनोमूलो जगद्वृक्षः पतिष्यति।।५९।।

योगियों के निरन्तर बढ़ रहे उदासीनतारूपी अमृत के प्रवाह से मन रूपी मूल (जगत् की जड़) के उखड़ जाने पर, उन्मूलित हो जाने पर जगत्रूपी वृक्ष गिर जायगा।।५९।।

सदा जाग्रदवस्थायां स्वप्नवद् योऽवतिष्ठते।
निःश्वासोच्छ्वासहीनसतु निश्चितं मुक्त एव सः।।६०।।

जो योगी सदा जाग्रतअवस्था में स्वप्नवत्, निःश्वास और उच्छ्वास से विहीन रहता है, वह निश्चय ही मुक्त ही है।।६०।।

---

१. "इदं तत् = प्रत्यभिज्ञा होना।
स्वप्नजागरणोपेता जन्तवो जगतीं गताः।

योगिनस्तत्त्वसम्पन्ना न जाग्रति न शेरते।।६१।।

संसार को प्राप्त जीव अर्थात् सांसारिक लोग स्वप्न और जागरणवाले हैं अर्थात् वे सोते भी हैं और जागते भी हैं। किन्तु तत्त्वसम्पन्न योगी जन न जागते हैं और न सोते ही हैं। वे स्वप्नजागरणविहीन हैं।।६१।।

स्वपने चिदंशशून्यत्वं जागरे विषयग्रहः।
स्वप्नजागरणातीतमतस्तत्वं बिदुर्बुधाः।।६२।।

स्वन में चिदंश नहीं रहता और जागरण में विषयों का ग्रहण होता है, इसलिए विद्वान् पुरूष तत्त्व को स्वप्न और जागरण से अतीत कहते हैं अथवा इसलिए स्वप्न और जागरण से अतीत को तत्त्व कहते हैं।।६२।।

भावाभावद्वयातीतं सवप्नजागरणातिगम्।
मृत्युजीवननिर्मुक्तं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः।।[1] ६३।।

तत्त्व के जानकार विद्वान् तत्त्व को भाव और अभाव दोनो से अतीत, स्वप्न और जागरण से परे एवं मरण जीवन से रहित जानते हैं।।६३।।

निद्रादो जागरस्यान्ते भावउपद्यते।
तं भांव भावयेद् योगी निश्चितं मुक्त एव सः।।६४।।

निद्रा के आदि में और जागरण के अन्त में जो भाव होता है, उस भाव की जो योगी भावना करे, वह निश्चय रूप से मुक्त ही है।।६४।।[2]

---

१. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न द्वैताद्वैतविवर्जितम्।। (अवधूत गीता १/३५)

२. जाग्रत अवस्था के अन्त में जब विषयज्ञान तिरोहित हो जाता है और निद्रा के आदि में जब जड़तत्त्वज्ञान (अज्ञान) का उदय होता है, इन दो अवस्थाओं के बीच (सन्धि) में क्षणभर के लिए जिस अवस्था का स्फुरण रहता है, वही शुद्ध चैतन्य अवस्था है। इसे सायंसंध्या कहते हैं। निद्रा भंग होने के बाद और विषयाान उदय होने से पूर्व ठीक इसी प्रकार की सन्धि-अवस्था में शुद्ध चैतन्य का उदय होता है, जिसे प्रातःसन्ध्या कहते हैं।

यथा सुप्तोत्थितः कश्चिद् विषयान प्रतिपद्यते।

जागर्त्येव ततो योगी योगनिद्राक्षणे तथा।।६५।।

जैसे सोकर उठा हुआ कोई पुरूष रूप, रसादि विषयों को प्राप्त करता है, वैसे योगनिद्रा के समय में योगी जागता ही रहता है, इसलिए वह योगी है।।६५।।[1]

सर्वतो भविता दृष्टिः प्रत्याभूता शनैः शनैः।
परतत्त्वमनादर्श पश्यतयात्मानमात्मना।।६६।।

चारों ओर फैलाई हुई दृष्टि जब धीरे-धीरे प्रत्याहत होकर लौटती है, तब साधक परतत्त्व को अपने में अपने-आप देखता है।।६६।।[2]

प्रथमं निःसृतादृष्टिः संगता यत्र कुत्रचित्।
स्थिरीभूता च यत्रैव विनश्यति शनैः शनैः।।६७।।[3]

त्रिपुरारहसय-ज्ञानखण्ड में भी कहा है कि-

निद्राजाग्रन्मध्यभागे संविद्भेदानन्तरे तथा।
मध्ये संविद्वेद्ययोश्चसूक्ष्मबुद्धयाऽभिलक्षय।।९/९४।।
एतत्पदं निजं रूपं यत् प्राप्य न विमुह्यति।
एतदज्ञज्ञनमात्रेण प्रवृत्तं जगदीदृशम्।।९/९५।।

१. साधारण व्यक्ति निद्रा की व्यस्था से जाग करके जैसे विषय का ग्रहण करते हैं, वैसे योगी योगनिद्रा-समय में भी विषय ग्रहण करते हुए जागता ही रहता है अर्थात लौकिक दृष्टि से प्रतीत होता है कि वह साधारण मनुष्य के सदृश जागता है परन्तु वासतव में यह योगी निद्रा में ही स्थित है।

२. दृष्टि प्रत्याहत करना = अंतमुर्ख करना।

३. नष्ट हो जाती है = उसी में लीन हो जाती है।
प्रसह्य संकल्पपरम्पराणामुच्छेदने संततसावधानाम्।

आलम्बभांवादपचीयमानन शनैः शनैः शान्तिमुपैतिदृष्टिः।।६८।।

संकल्प - परम्पराओं के बलात् उच्छेद में (विनाश करने में) सदा सावध ान दृष्टि आलम्बन के अभाव से नष्ट (क्षीण) होती हुई धीरे-धीरे शान्त हो जाती है।।६८।।

यथा यथा सदाभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत्।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा।।६९।।

सदा के अभ्यास से जैसे-जैसे मन में स्थिरता आती है, वैसे-वैसे वायु, वाणी और शरीर में स्थिरता आ जाती है।।६९।।

दृश्यं पश्यति येन सत्प्रियकरं श्राव्यं तथा श्रृण्वतः
घ्रातव्यं परिजिघ्रतोऽथवदतो ध्येयं सदा ध्यायतः।
स्पर्शं च स्पृशतो निरन्धनशिला प्रख्यं मनोऽत्रक्रमाद्
अद्वैताख्यपदस्य तत्त्वपदवीं प्राप्तस्य सद्योगिनः।।७०।।

सुन्दर दृश्य को देख रहे, मनोहारी श्रव्य को सुन रहे, सूँघने योग्य सुन्दर पदार्थों को सूँघ रहे, वक्तव्य वचनों को बोल रहे, ध्येय तत्त्व का हृदय में ध्यान कर रहे, स्पृश्य वस्तु का सपर्या कर रहे, अद्वैत पद के तत्त्व को प्राप्त हुए सत्य-तत्त्व में स्थित (सच्चे) का मन क्रम से निरन्धन अग्निशिखा के तुल्य शान्त हो जाता है।।७०।।

यदा यत्र यथा यत्र स्थिरं भवति मानसम्।
तदा तत्र तथा तस्माद् न तु चाल्यं कदाचन।।७१।।

अतः जब जहाँ पर जिस प्रकार मन स्थिर हो, तब वहाँ उसी प्रकार उसको रहने देना चाहिए। वहाँ से उसे कदापि नहीं हटाना चाहिए।।७२।।

यत्र यत्र मनो याति न निवार्य ततस्ततः।
अवारितं क्षयं याति वार्यमाणं तु बर्द्धते।।७२।।

जहाँ जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ से उसे निवृत करना (हटाना) नहीं चाहिए। अवारित मन (न हटाया गया, न रोका गया मन) क्षय को प्राप्त हो जाता है। यदि उसे रोका जाय तो वह बढ़ता है।।७२।।

यथा निरंकुशो हस्ती कामान् प्राप्य निवर्तते।

अवारितं मनस्तद्वत् स्वमव विलीयते।।७३।।

जैसे निरंकुश हाथी अपने अभिलषित पदार्थों को प्राप्त कर लौट जाता है, वैसे ही आवारित (न रोका गया) मन भी अपनी इच्छा पूरी कर अपने-आप शान्त हो जाता है।।७३।।

निवार्यमाणं यत्नेन तत्कर्तुं नैव शक्यते।
न तिष्ठति क्षणेनैव मारूतस्य वशोदायात्।।७४।।

मन प्रयत्नपूर्वक निवारित करने पर भी निवारित नहीं किया जाता है। वह मन (मन) वायु के वशीभूत रहने के कारण एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रहता[1]।।७४।।

दुनिवार्यं मनसतद्वद्यावत्तत्त्वं न विन्दति।
विदिते तु परे तत्त्वे मनो नौस्तम्भकाकवत्।।७५

वैसे ही जबतक तत्त्व प्राप्त नहीं होता, तबतक इधर-उधर भागता हुआ मन दुनिवार्य है। पर-तत्त्व जब प्राप्त हो जाता है, तब मन समुद्र में जहाज के (स्तम्भ) मस्तूल पर बैठे हुए कौए की तरह स्थिर हो जाता है।।७५।।

यथा तुलां तुलाधारश्चंचला कुरूते स्थिराम्।
याने ृसौख्येसदाभ्यासान्मनोवृत्तिस्तदात्मनि।।७६।।

जैसे तराजू से तोलनेवाला बनिया चंचल तराजू को स्थिर कर देता है, उसी प्रकार सदा के अभ्यास से ध्यान में तथा सुख में मनोवृत्ति सदा आत्मा में स्थिर रहती है।।७६।।

निष्पन्नाखिलभावशून्यनिसृजः स्वान्तःस्थितिस्तत्क्षणात्
निश्चेष्टश्लथपाणिपादकरणग्रामों विकारोंज्झितः।

---

१. चञ्चल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्थे वायोरिव सुदुष्करम्।।(श्रीगीता ६/३४)
निर्मूलप्रविनष्टमारूततया निर्जीवकाष्ठोपमो

निर्वातस्थितदीपवत्[1] सहजवान्यस्याः स्थितेर्लक्ष्यते२।।७७।।

जिस पुरूष का मन सब प्रकार के भावों से विहीन हो चुका, उसकी तुरन्त आत्मनिष्ठा हो जाती है, उसमें निष्ठा होने पर सहजवान् पुरूष के हाथ, पैर आदि इन्द्रिय-समूह निश्चेष्ट और शिथिल हो जाते हैं, विकार हट जाते हैं, वायु के निर्मूल अतएव विनिष्ठ होने के कारण वह निर्जीव काठ के तुल्य तथा निर्वात स्थान पर स्थित दीपक की तरह निश्चल दिखाई देता है।।७७।।

निक्षिप्तं कनकं विहाय कलुषं यद्वद् भवेन्निर्मलं
निर्वातस्थितनिस्तरंगमुदकं स्वच्छस्वभावं परम्।
तद्वत् सर्वमिदं विहाय सकलं देदीप्यते निष्कलं
तत्त्वं तत्सहजं स्वभावममलं जातेऽमनस्के ध्रुवम्।।७८।।

अग्नि में डाला हुआ सोना जैसे कालिमा का त्याग कर निर्मल हो जाता है एवं जैसे निर्वात (वायुरहित) स्थान पर जल तरंगरहित तथा स्वच्छस्वभाव रहता है, वैसे ही अमनस्क हो जाने पर सकल (कला-सहित) तत्त्व निश्चय ही इस निश्चलपंच का त्याग कर निर्मल, निष्कल, सहज स्वभाव हो जाता है।।७८।।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मुक्तये निर्विषयं मनः।।७९।।

मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का हेतु है। विषयों में आसक्त मन बन्धन के लिए और निर्विषय मन मुक्ति के लिए कारण होता है[3]।।७९।।

---

१ गीता ६/१९ देखिये।

२. स्थितिर्लक्ष्यते।

३. आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। (गीता ६/५)
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय. विषयासक्तं मुक्तिनिर्विषयं स्मृतम्।।(पंचदशी)
मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किंचित्सचराचरम्।

मनसोऽप्युन्मनीभावेऽद्वैतभावः प्रकल्पते।।८०।।

जो कुछ चराचर तगत् है, यह सब मन से दृश्य है। मन की उन्मनी भाव (अर्थात् विलय) होने पर अद्वैतभाव हो जाता है।।८०।।

जायमानामनस्कस्य ह्युदासीनस्य तिष्ठतः।
मृदुत्वं च परत्वं च शरीरस्याथ जायते।।८१।।

अमनस्कता जिसमें उत्पन्न हो रही है और जो चारों ओर से सर्व विषयों में उदासीन रहता है और जो स्थितशील हो गया है, ऐसे योगी का शरीर कोमल और श्रेष्ठ हो जाता है।।८१।।

अमनस्के क्षणात्क्षीणं कामक्रोधादिबन्धनम्।
नश्यतिकरणस्तम्भं देहगेहं स्तथं भवेत्[1]।।८२।।

अमनस्क भाव का उदय होने पर क्षणभर में काम-क्रोधादि बन्धन क्षीण हो जाते हैं, इन्द्रिय-स्तम्भ (इन्द्रियसमूह) नष्ट हो जाते हैं, देहरूपी घर शिथिल हो जाता है।।८२।।

सहजेनामनस्केन मनःशल्ये नियोजिते।
आतपत्रमिवास्म्भं शरीरं शिथिलायते।।८३।।

सहज अमनस्क के द्वारा मनयपी काँटे को निकाल फेंकने पर शरीर बिना डंडे के छाते के सदृश शिथिल पड़ जाता है।।८३।।

अमलस्कखानित्रेण समूलोन्मूलने कृते[2]।
अन्तःकरणशल्ये तु सुखी संजायते मुनिः।।८४।।

अमनस्करूपी कुदारी से अन्तःकरण (मन) रूपी शल्य (काँटे) के समूल (जड़सहित) उन्मूलित होने पर तो मुनि (योगी) सुखी हो जाता है।।८४।।

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। (श्रुति)
इस श्लोक का अंतिम चरण श्रीमद्भागवत (११.२०.३०) में इस प्रकार है- "मयि दृष्टेऽखिलात्मनि।"

२. समूलोन्मूलिते सति (कृते)
कदलीव महामाया समनस्केन्द्रिये सदा।

अमनस्कफलं दत्वा सर्वदैव विनश्यति।।८५।।

कदली (केले के पेड़) के सदृश महामाया समनकेन्द्रिय पुरूष को एक बार अमनस्करूप फल प्रदानकर सर्वदा के लिए विनिष्ट हो जाती है।।८५।।

इन्द्रियग्राहपदयोः निःश्वासोच्छ् वासपक्षयोः।
संक्षीणयोर्मन पक्षी स्थिरसत्तोऽवसीदति।।८६।।

मनरूपी पक्षी, जिसके निःशवास और उच्छ्वास रूप दो पंख हैं, जो इन्द्रिय तथा विषयालम्बन से युक्त है, के सम्यक्रूप से क्षीण होने पर उसकी सत्ता स्थिर हो जाती है और वह नाश को प्राप्त हो जाता है'।।८६।।

श्वाससूत्रशतोपेतमिन्द्रियालयसंकुलम्।
त्रोटयित्वा मनोजालं मीनवज्जायते सुखी।।८७।।

जैसे मत्स्य शत सूत्रों से बने हुए है और बहुत छिद्रसम्पन्न जाल को तोड़ने पर निश्चिंत हो जाता है, उसी प्रकार योगी श्वास-प्रश्वास से युक्त और इन्द्रियों से प्रभावित मन का नाश कर सुखी हो जाता है।।८७।।

प्रशान्तेन्द्रियपादातो बुद्धिशक्तिसमन्वितः।
वायुयानयुतश्छित्वा मनः शत्रुं सुखी भवेत्[2]।।८८।।

अत्यन्त शान्त इन्द्रियाँ ही जिसकी पैदल सेना हैं, बुद्धि ही जिसके पास शक्ति (शक्ति नामक शस्त्र) है एवं वायु ही जिसकी सवारी है, ऐसा योगी मनरूपर शत्रु को नष्ट कर सुखी हो जाय।।८८।।

गुणत्रयमयी रज्जुं सुदृढामात्मबन्धनीम्।
अमनस्कक्षुरेणैव च्छित्वा मोक्षमवाप्नुयात्।।८९।।

योगी सत्त्व, रज और तमरूपी तीन गुणों की बनी (माया) जो आत्मा को बांधनेवाली मजबूत रस्सी है, को अमनस्क योगरूपी छुरे से ही काटकर मोक्ष को प्राप्त हो जाय।।८९।।

---

१. अर्थात् श्वास के नष्ट होने पर मन का नाश हो जाता है।

२. "प्रशान्तेन्द्रियपादातं बुद्धिशक्तिसमन्वितम्।
वायुयानयुतं छित्वा मनः शत्रुं सुखी भवेत्।।"
यह पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है।
यथा संह्रियते सर्वमस्तं गच्छति भास्करे।

करजालमं तथा सर्वममनस्के विलीयते।।६०।।

जैसे सूर्य के अस्त होने पर किरणजाल संहत (छिन्न-भिन्न) हो जाते हैं, वैसे ही योगी के अमनस्क होने पर सब (विश्व) लीन हो जाता है।।६०।।

इन्द्रियग्राहनिर्मुक्ते निर्वाते निर्मलामृते।
अमनस्कह्रदे स्नातः परामृतमुपाश्नते।।६१।।

जिस प्रकार मगर आदि जन-जन्तुओं से मुक्त, वायुशून्य निर्मल जलवाले सरावर में स्नान करने पर तृप्ति-लाभ होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त तथा प्राण, अपान आदि क्रिया से शून्य अमनस्क अवस्था में अवगाहन करने पर परा शान्ति (परमसुख) प्राप्त होती है।।६१।।

इत्युक्तमेतत् सहजामनस्कं,
शिष्यप्रबोधाय शिवेन साक्षात्।
नित्यं हि नूनं विगतप्रपंचं,
वाचामवाच्यं स्वमेव बोध्यम्।।६२।।

साक्षात् भगवान् शिवजी ने शिष्यों के प्रबोध (ज्ञान) के लिए यह सहज अमनसक योग इस प्रकार कहा। यह नित्य-नूतन, निष्कल, निष्प्रपंच वाणी द्वारा कथनीय नहीं है। इसे स्वयं ही जानना चाहिए अर्थात् यह स्वानुभवैकवेद्य है।।६२।।

चित्ते चलति संसारोऽचले मोक्षः प्रजायते।
तस्माच्चितं स्थिरीकुर्यादौदासीन्यपरायणः।।६३।।[1]

चित्त के चंचल होने पर संसार का भान होता है और निश्चल होने पर मोक्ष का उदय होता है। अतएव उदासीन (निष्क्रिय) होकर चित्त को स्थिर करना चाहिए।।६३।।

चतुर्विधा मनोवस्था विज्ञातव्या मनीषिभिः।
विश्लिष्टं च गतायातं सुश्लिष्टं च सुलीनकम्।।६४।।

विद्वान् पुरूषों की मनोवस्था चार प्रकार की जाननी चाहिये- १. विश्लिष्टावस्था, २. गतागतावस्था, ३. सुश्लिष्टावस्था और ४. सुलीनावस्था।।६४।।

---

१. चित्तमेव हि संसारः। (मैत्रेयी उपनिषद्)
विश्लिष्टं तामसं प्रोक्तं राजसं च गतागतम्

सुश्लिष्टं सात्विकं प्रोक्तं सुलीनं गुणवर्जितम्।।९५।।

विश्लिष्टावस्था तामस कही गई है, गतागतावस्था राजस, सुश्लिष्टावस्था सात्विक और सुनीलावस्था निर्गुण कही गई है।।९५।।

विश्लिष्टं च गतायातं विकल्पविषयग्रहम्।
सुश्लिष्टं च सुलीनं च विकल्पविषनाशनम्।।९६।।

विश्लिष्ट और गतागत अवस्था में विकल्प और विषयों का ग्रहण होता है। सुश्लिष्ट और सुलिन अवसथा में विकल्परूपी विष का नाश हो जाता है।।९६।।

ततोऽभ्यासनियोगेन निरालम्बो भवेद् यदि।
तदा सरिसभूतानि (सहजभूतात्मा?) परमानन्द एव सः।।९७।।

तदुपरान्त निरन्तर अभ्यासयोग से यदि योगी निरालम्ब हो जाय तो उसकी आत्मा सहजावस्था को प्राप्त करके परमानन्द ही बन जाती है।।९७।।[1]

अभ्यस्तो मनःपूर्वं विश्लिष्टं चलमुच्यते।
ततश्च निश्चलं किञ्चित् सानन्दं च गतागतम्।।९८।।
सानन्दं निश्चलं चेतः ततः सुश्लिष्टमुच्यते।
अतीव निश्चलीभूतं सानन्दं च सुलीनकम्।।९९।।

अभ्यास कर रहे योगी का मन पहले चल रहने के कारण विश्लिष्ट कहा जाता है। उसके बाद किंचित् निश्चल होने पर सानन्द कहा जाता है और अत्यन्त निश्चल हो जाने पर उसे सुलिन कहा जाता है।।९८, ९९।।

बभूव तस्य कर्माणि पापपुण्यस्य संक्षयः।
प्रयान्ति नैव लिम्पन्ति क्रियमाणानि साधुना।।१००।।

साधु द्वारा किये जा रहे कर्म नष्ट हो जाते हैं, उसे लिप्त नहीं करते हैं, क्योंकि उसके पाप और पुण्य का संक्षय हो चुका रहता है।।१००।।

---

१. यहाँ पर "सरिसभूतानि" शब्द उचित प्रतीत नहीं हो रहा है, अतः 'सहजभूतात्मा" शब्द ही योग्य है।

उत्तुङ्ग सहजानन्दः सदाभ्यासरतः स्वयम्।

सर्वसंकल्पसंत्यक्तः स विद्वान् कर्मसंत्यजेत्।।१०१।।

स्वयं सदा अभ्यास में निरत अतएव बहुत उन्नत सहज आनन्दवाला तथा सब संकल्प और विकल्पों से मुक्त हुआ वह विद्वान् पुरूष कर्म का सम्यक् त्याग कर दे।।१०१।।

ये तु विद्यार्थविज्ञान[1] विद्वांस इति कीर्तिताः।
आत्मतत्त्वं न जानन्ति दर्वो पाकरसं यथा।।१०२।।

किन्तु जो लोग पुस्तकीय विद्या और धनार्थ अर्जित विज्ञानवाले विद्वान कहे जाते हैं, वे आत्मतत्त्व को वैसे ही नहीं जानते हैं, जैसे दर्वी (करछुल) पाक (रसोई) के रस (स्वाद) को नहीं जानती।।१०२।।

सांसारिकक्रियायुक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम्।
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा।।१०३।।

जो सांसारिक क्रियाओं से युक्त हो और मैं 'ब्रह्मज्ञानी हू' ऐसा दम भरता हो, कर्म और ब्रह्म दोनों को भ्रष्ट उस तथाकथित ब्रह्मज्ञानी का अन्त्यज के समान त्याग कर देना चाहिए।।१०३।।

वृथा देवान् परित्यज्य कर्मकाण्डविवर्जितान्।
पाखण्डपण्डितान् मन्ये न ते किमपि जानते।।१०४।।

वृथा यजनीय देवताओं का परित्याग कर कर्मकाण्ड से रहित लोगों को मैं पाखण्डी पण्डित मानता हूँ, वे कुछ नहीं जानते हैं।।१०४।।

न कर्माणि त्यजंद् योगी कर्मभिस्त्यजते ह्यसौ।
कर्मणो मूलभूतस्य संकल्पस्यैव नाशतः।।१०५।।

योगी को कर्मों का त्याग नहीं करना पड़ता है, क्योंकि कर्मों के मूलभूत संकल्प का नाश होने से वह सवयं कर्मों का त्याग जाता है।।१०५।।

---

१. "विदितविज्ञाना" इति पाठान्तरम्।
यदा यदा सदाभ्यासात् संकल्पविलयो भवेत्।

योगिनो भवति श्रेयान् कर्मस्यागस्तदा तदा।।१०६।।

जब-जब सदा अभ्यास से संकल्प का विनाश होता है, तब-तब योगी का श्रेयस्कर कर्मत्याग होता है।।१०६।।

दान्तानां कुशलानां च सततं मोक्षमिच्छताम्।
श्रद्धावतां सुशिष्याणां शास्त्रमेतत्प्रकसशयेत्।।१०७।।

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुके एवं सदा मोक्ष की इच्छा रखनेवाले दक्ष श्रद्धावान् सद् शिष्यों के लिए इस शास्त्र को प्रकट करना चाहिए।।१०७।।

शास्तमेतत् प्रयत्नेन सदाभ्यास्यं मुमुक्षुभिः।
यस्य धारणामात्रेण स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।१०८।।

मुमुक्ष पुरूषों को इस शास्त्र का यत्नपूर्वक सदा अभ्यास करना चाहिए, जिसके धारणामात्र से तत्त्व अपने-आप प्रकाश में आ जाता है।।१०८।।

न दिवा जागरितव्यं स्वपितव्यं नैव रात्रिभागेऽपि।
रात्रावहि च सहजे स्वपितव्यं योगिना नित्यम्।।१०९।।

यागी को न तो दिन में जागरण करना चाहिए और न रात्रि में शयन। योगी को नित्य रात में और दिन में सहजतत्व में शयन (विश्राम) करना चाहिए।।

निर्मनः सहजस्थिते पुरूषे न दिवारात्रिशब्दोऽस्ति।
जागरणशयनवर्जित चिन्मात्रानन्दस्थानात्[1]।।११०।।

अमनसकयप सहजतत्व में स्थित पुरूष के विशय में दिन और रात्रि शब्द घटित नहीं होते हैं, क्योंकि वह जागरण और शयन से रहित चिन्मात्रनन्द में स्थित रहता है।।११०।।

ॐ कारप्रमुखैर्विचित्रकरणैः प्रायस्य वा यो जपः[2],
तेजाश्चिन्तनमन्तरालकमले शून्याम्बरालम्बनम्।

---

१. स्वप्नः प्रबोधो न च योगमुद्रा नक्तं दिवा वापि न में कदाचिद्।
अतुर्यतुर्यं च कथं वदामि स्वरूपनिवार्णमना मयोऽहम्।।
(अवधूतगीता ४-१७)

२. 'प्रणस्ययद्योजनम्' इतिपाठान्तरम्।

त्यक्त्वा सर्वमिदं .....[1] मत्वा मनो विभ्रमं,
देहान्ते तदवाच्यमेकममनस्कत्त्वं बुधैः सेव्यताम्।।१११।

ओंकारादि विभिन्न कारणों से प्राण का संयोंजन (१) हृदयकमल में ज्योतिश्चिन्तन, (२) महाशून्यरूप आकाश का आलम्बन अर्थात् चित्त का निरालम्बन, (३) इन सबका, मन के विश्रम हेतु, त्यागकर अन्तिम समय में ज्ञानियों को एकमात्र अवाच्य को अमनस्क का सेवन करना चाहिए।।१११।।

अन्यजन्मकृताभ्यासात्स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।
सुप्तोथितः प्रत्यूषे ह्युपदेशाद विना प्रबुद्धयते।।११२।।

अन्य जंन्मों में किये गये अभ्यांस से तत्त्व स्वयं प्रकाशित होता है। सोकर जागा हुआ पुरूष प्रातःकाल उपदेश के बिना ही जैसे सब कुछ जान जाता है।।११२।।

शुद्धाभ्यासस्य शान्तस्य सदैव गुरूसेवया।
गुरूप्रसादात्तत्रैव तत्त्वज्ञानं प्रकाशते।।११३।।

सदैव गुरूसेवा से ही जिसका अभ्यास शुद्ध है, ऐसे शान्त पुरूष को गुरू के प्रसाद से ही इसी जन्म में तत्त्वज्ञान प्रकाशित हो जाता है।।११३।।

इति श्रीईश्वरवामदेवसंवादेऽमनस्के योगशास्त्रे द्वितीयोलयः

---

१. (ख) करो नरवरं।

अमनस्क योग की सिद्धि

भगवान् पतंजलि के अनुसार योग के सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात- दो प्रकार हैं। असम्प्रज्ञात योग ही मुख्य योग है, क्योंकि इसी में चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है। यह असम्प्रज्ञात योग भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात नहीं है, जो प्रकृतिलय के नाम से प्रसिद्ध है। यह उपायप्रत्यय है। उपाय शब्द से प्राा समझनी चाहिए। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि से प्रज्ञा का उदय होता है। इस प्रज्ञा के निरोध से उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात योगसमाधि होती है। यही योगपद वाच्य है। सम्प्रज्ञात समाधि में क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ वृतियों का निरोध होकर एकाग्र भूमि में स्थित होती हैं। यह भी गौण दृष्टि से योगपद वाच्य है, क्योंकि इस भूमि में विशिुद्ध ज्ञान का उदय होता है, अज्ञान की निवृति हो जाती है। परन्तु मुख्य दृष्टि से यह भी पूर्ण योग नहीं है। जब एकाग्र भूमि में उपलब्ध प्रज्ञा का निरोध हो जाता है, तभी सर्वचित्तवृतिनिरोधरूप योग का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि पतंजलि की प्रक्रिया वर्तमान ग्रन्थ की प्रक्रिया के सर्वथा अनुरूप है। जैसे सम्प्रज्ञात भूमि में मन रहता है, वैसे पूर्वयोग या तारक योग में भी मन रहता है। पक्षान्तर में जैसे असम्प्रज्ञात योग में मन नहीं रहता, उसी प्रकार मन की निवृत्ति होने से योग नहीं होता, प्रकृतिलय की अवस्था में भी मन का लय होता है। वह योग नहीं है। मन का लय तो होना चाहिए परन्तु सत्यज्ञान का भी उदय होना चाहिए। अमनस्कयोग में भी यही बात है। अमनस्क में आत्मा का सांक्षात्कार होता है।

- गोपीनाथ कविराज

मुद्रक : दि इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स, अमुरन चुंगी, मेडिकल कालेज रोड, गोरखपुर, फोन-280979